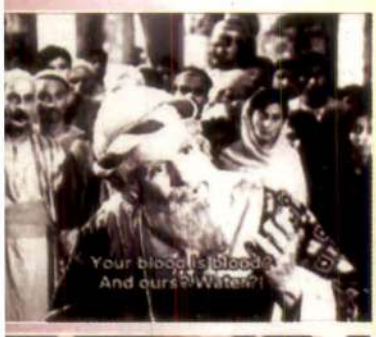
जुलाई 2006 मूल्य : सात रुपये

आजकल

साहित्य और संस्कृति का मासिक









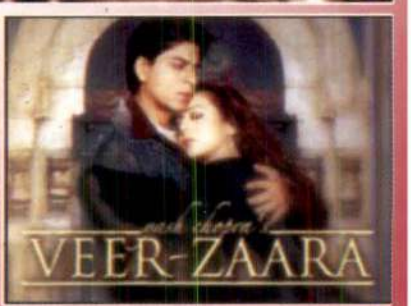












इस अंक में हिंदी सिनेमा पर विशेष सामग्री

सिनेमा के एक सौ दस वर्षों का सफर–संजीव श्रीवास्तव, संगीतकार नौशाद को श्रद्धांजलि–अखिलेश झा,
भारतीय सिनेमा के जनक–दादा साहेब फालके–नवीन जोशी,
जैनेन्द्र के उपन्यासों में स्त्री–पूनम कुमारी,
प्रेमचंद के कथा साहित्य में साम्प्रदायिक सद्भाव–स्मिता मिश्र
उमेश अग्निहोत्री, पाल भसीन और इब्राहीम मोतमद इज़ाद की कहानियां तथा रमेश चंद्र पंत, श्याम सिंह चौहान,



पुरस्कार वितरण समारोह में बाएं से दाएं प्रकाशन विभाग की निदेशक श्रीमती वीना जैन, सूचना और प्रसारण मंत्री श्री प्रियरंजन दासमुंशी, सचिव श्री एस.के. अरोड़ा और संयुक्त सचिव श्री पी.के. त्रिपाठी

हिंदी के 16 लेखकों और पत्रकारों को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पुरस्कार

केंद्रीय सूचना और प्रसारण मंत्री श्री प्रियरंजन दासमुंशी ने हिंदी के सोलह लेखकों और पत्रकारों को वर्ष 2003 के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पुरस्कार से सम्मानित किया। गत 12 मई को नई दिल्ली में आयोजित एक समारोह में पत्रकारिता और जनसंचार वर्ग में सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री आलोक मेहता को उनकी पुस्तक *पत्रकारिता की लक्ष्मण रेखा* के लिए प्रथम पुरस्कार के रूप में 35 हजार रुपये नकद और प्रशस्ति पत्र प्रदान किया गया। श्री मेहता 'आउटलुक' (हिंदी) पत्रिका के संपादक हैं। पत्रकारिता वर्ग में द्वितीय पुरस्कार (25 हजार रुपये) दैनिक हिंदुस्तान के सहायक संपादक श्री अरविंद मोहन को उनकी पुस्तक *पत्रकार और पत्रकारिता प्रशिक्षण* के लिए प्रदान किया गया है। इन पुरस्कारों की शुरूआत पत्रकारिता और जनसंचार विषयों पर हिंदी में मौलिक लेखक को बढ़ावा देने के लिए वर्ष 1983 में की गई थी। पत्रकारिता वर्ग में तीसरा पुरस्कार श्री चंद्रभूषण को उनकी पांडुलिपि *पुस्तक प्रकाशन : विविध आयाम* के लिए दिया गया। उन्हें 20 हजार रुपये नकद और प्रशस्ति पत्र प्रदान किया गया। इस वर्ग में पांच–पांच हजार रुपये के पांच मान पुरस्कार श्री रामसागर शुक्ल को *रेडियो और टेलीविजन समाचार कैसे लिखें,* श्री बच्चन सिंह को *हिंदी पत्रकारिता का नया स्वरूप,* प्रो. रमेश कुमार जैन को *जनसंचार एवं पत्रकारिता,* श्री महावीरजी सिंहल को *अजूबे आकाशवाणी के* (पांडुलिपि) और डा. कौशल शर्मा को उनकी पांडुलिपि *रेडियो प्रसारण* के लिए प्रदान किए गए। राष्ट्रीय एकता वर्ग में 15 हजार रुपये का प्रथम पुरस्कार, *गांधी दर्शन–राष्ट्रीय पुनरूत्थान के लिए* (पांडुलिपि) के लेखक प्रो. मधुसूदन त्रिपाठी को मिला। दस हजार रुपये का दूसरा पुरस्कार, *स्वतंत्रता आंदोलन* पुस्तक के संयुक्त लेखकों डा. एस. अखिलेश और डा. ब्रजगोपाल शुक्ल को मिला।

महिला समस्या वर्ग में सुश्री सुशीला कुमारी को उनकी पांडुलिपि *आधी दुनिया का सच* के लिए 15 हजार रुपये का प्रथम पुरस्कार और सुश्री झुम्पा मेटे को *मीडिया और नारी मुद्दे* (पांडुलिपि) के लिए द्वितीय पुरस्कार प्रदान किया गया। बाल साहित्य वर्ग में सुप्रसिद्ध लेखिका डा. उषा यादव को उनकी पांडुलिपि *किले का रहस्य* के लिए 15 हजार रुपये का प्रथम पुरस्कार प्रदान किया गया। इस वर्ग में 10 हजार रुपये का द्वितीय पुरस्कार संयुक्त रूप से दो लेखकों डा. रंजना अग्रवाल और डा. पुष्पा सक्सेना को प्रदान किया गया। डा. रंजना अग्रवाल को उनकी पांडुलिपि *मच्छर ने समझाया* और डा. पुष्पा सक्सेना को पांडुलिपि *माटी के तारे* के लिए सम्मानित किया गया। प्रकाशन विभाग की निदेशक श्रीमती वीना जैन ने सभी पुरस्कार विजेताओं को हार्दिक बधाई दी।

ISSN-0971-8478

पृष्ठ 1-48

स्थापित 1945

इस अंक में

आजकल

लेख

7. जैनेन्द्र के उपन्यासों में स्त्री

जैनेन्द्र के लिए स्त्री केवल पत्नी, बेटी, मां बहन, प्रेयसी नहीं बल्कि इन सबसे परे एक स्वतंत्र व्यक्ति है, जिसकी अपनी आशाएं, आकांक्षाएं और द्वंद्व हैं जिसे उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में चित्रित किया है। जैनेन्द्र की नायिकाएं हमें झकझोरती नहीं, न समकालीन नायिका प्रधान उपन्यासों में प्रयुक्त बिंबों की तरह एक तिक्त वास्तविकता के आस्वाद से विक्षुब्ध करती हैं। जैनेन्द्र के कथा साहित्य में स्त्री पात्रों की विवेचना कर रही हैं ***पूनम कुमारी***

10. प्रेमचंद के कथा साहित्य में साम्प्रदायिक सद्भाव

हिंदू और मुसलमान की समस्या प्रेमचंद के समय में भी थी। कट्टर हिंदूवादी, मुस्लिमवादी सोच समाज और राष्ट्र के लिए संकट थी। हिंदू-मुसलमान एक साथ थे फिर भी रह-रहकर लगता था कि वे दोनों दो तरफ के मनुष्य हैं और यह सोच टकराहट पैदा करती थी। प्रेमचंद जैसे मानववादी लेखक, हर स्तर पर हिंदू-मुसलमान में सद्भावना पैदा करना चाहते थे। प्रेमचंद के लेखन में साम्प्रदायिक सद्भाव के मूल्यों की पड़ताल कर रही हैं ***रिमता मिश्र***

13. तेरी याद आई तेरे जाने के बाद

हिंदी सिनेमा के महान संगीतकार नौशाद का मानना था कि हमें संगीत की दुनिया में किसी से कुछ उधार लेने या किसी की नकल करने की जरूरत नहीं है। उन्होंने इस संदर्भ में एक शे'र कहा है- *दरे-गैर पर भीख मांगो न फन की, जब अपने ही घर में खजाने बहुत हैं*। हिंदी सिनेमा के संगीत में नौशाद के बहुमूल्य योगदान की चर्चा कर रहे हैं ***अखिलेश झा***

30. हरियाली तीज : हरियाणा की सांस्कृतिक पहचान

झूले झूलना इस त्यौहार की विशेष परंपरा है। वैसे तो सावन का महीना लगते ही गांव के छोटे-छोटे बच्चे, लड़कियां आदि झूलने लग जाते हैं। किंतु तीज वाले दिन तो यह दृश्य देखते ही बनता है। हरियाणा के लोकपर्व तीज की विशेषताओं का परिचय दे रहे हैं ***ओमप्रकाश कादयान***

35. भारतीय सिनेमा के जनक —दादा साहेब फालके

बीस फीचर फिल्में और 97 लघु फिल्में बनाने वाले दादा साहेब फालके की जमा पूंजी में टका भी न था इसलिए उन्हें आजीविका अर्जित करने के लिए निर्देशक के रूप में पुन: फिल्म उद्योग से जुड़ना पड़ा। भारतीय सिनेमा के पितामह दादा साहेब फालके के कृतित्व का परिचय दे रहे हैं ***नवीन जोशी***

38. सिनेमा के एक सौ दस वर्षों का सफर

हिंदुस्तान में सिनेमा ने वर्षों के लंबे संघर्ष के पश्चात ठीक से चलना, फिरना और बोलना शुरू किया। जिसके बाद नई ऊंचाइयों, नई उपलब्धियों, नये मुकामों और नये प्रयोगों का सिलसिला चल पड़ा। आज सिनेमा स्पेशल इफेक्ट्स और डिजिटल युग में प्रवेश कर चुका है। आज सिनेमा के पर्दे पर कोई भी करतब दिखाना मुश्किल नहीं रहा। भारतीय सिनेमा के एक सौ दस वर्षों के लंबे संघर्ष और उपलब्धियों का आकलन कर रहे हैं ***संजीव श्रीवास्तव***

साक्षात्कार

22. मैं काम से अलग रहकर जीवित नहीं रह सकता
लोक कलाकार भिखारी ठाकुर से प्रो. रामसुहाग सिंह की बातचीत

कहानी

19. पिज्जा
उमेश अग्निहोत्री

21. आपकी यात्रा शुभ हो (लघुकथा)
विनायक

33. अनमनी अनन्या
पाल भसीन

42. खूनी ताने-बाने (उर्दू)
इब्राहीम मोतमद नज़ाद

कविताएं

26. तीन कविताएं
रमेश चंद्र पंत

27. तीन कविताएं
श्याम सिंह चौहान

28. कविता
निर्मला पुतुल

29. तीन ग़ज़लें
माधव कौशिक

दो ग़ज़लें
आलोक कुमार श्रीवास्तव

स्तंभ

2. प्रसंगवश

3. पत्र

46. पुस्तक समीक्षा

वर्ष : 62; अंक : 3; पूर्णांक : 741
जुलाई 2006, आषाढ़-श्रावण 1928

संपादक
प्रवीण उपाध्याय

सहायक संपादक
सीमा ओझा

आवरण : *अलका नय्यर*

संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक
आजकल : प्रकाशन विभाग
कमरा नं. 120, सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003
फोन : 2436 2915
website: www.publicationsdivision.nic.in

संयुक्त निदेशक (उत्पादन) :
एन.सी. मजूमदार

चंदे की दरें :
वार्षिक : 70 रुपये; दो वर्ष: 135 रुपये;
तीन वर्ष : 190 रुपये
विदेशों में (हवाई डाक से)
एक वर्ष : पड़ोसी देश : 500 रुपये
शेष विश्व : 700 रुपये

चंदे संबंधी पूछताछ :
जगदीश प्रसाद
वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक
पूर्वी ब्लाक-4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली-110066 फोन : 26105590

हमारे विक्रय केंद्र
नई दिल्ली : पूर्वना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 24367260
लखनऊ : दूसरी मंजिल, हाल नं. 1, क्षेत्रीय भवन, अलीगंज, लखनऊ-226024;
कोलकाता : 8, एस्प्लनेड ईस्ट; दूरभाष : 22488030
पटना : बिहार राज्य सहकारिता बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ; दूरभाष : 2300096
मुम्बई : 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन, बेलापुर, नवी मुंबई-400614;
बंगलौर : एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरमंगला दूरभाष : 25537244
हैदराबाद : ब्लाक-4, प्रथम तल, हिमकल्प कॉम्प्लेक्स, एस.आर. मार्ग, सोमाजीगुडा, दूरभाष : 2236393
चेन्नई : गांधीजी भवन, बेसेंट नगर; दूरभाष : 24917673
तिरुअनंतपुरम : गवर्मेंट प्रेस के निकट, दूरभाष : 2330650

टाइपसेट : ज्योति लेजर टाइपसेटिंग

प्रसंगवश...

सात जुलाई 1896 को मुंबई के वाटसन होटल में पहली बार चलते-फिरते छायाचित्रों का प्रदर्शन हुआ था। उस वक्त किसको पता था कि ये चलचित्र एक दिन हमारी जिंदगी का अहम हिस्सा बन जाएंगे। आज जब हम भारत में सिनेमा के पिछले 110 वर्षों के इतिहास पर नज़र डालते हैं तो पाते हैं कि हमारे समाज, संस्कृति और निजी जिंदगी में सिनेमा इस कदर हावी हो चुका है कि लगता है कि सिनेमा न होता तो क्या होता?

आधुनिक कलाओं में सिनेमा एकमात्र ऐसी विधा है जिसका आरंभ भारत और यूरोप में लगभग एक साथ हुआ। भारत में 'स्टिल' फोटोग्राफी की कला 1860 में ही पहुंच गई थी। और अगले 20 वर्षों के दौरान कई व्यक्तियों ने इसे पेशे के रूप में अपना लिया था। आरंभ में चलचित्र कैमरे का प्रयोग 'स्टिल' कैमरे की भांति हुआ। यह महत्वपूर्ण है कि भारत में फिल्म निर्माण विश्व के अन्य देशों की तुलना में बहुत पिछड़ा नहीं रहा। पश्चिम में 1910 में चित्रकला के क्षेत्र में पिकासो का घनवाद चल रहा था। भारत में उस समय राजा रवि वर्मा के चित्र धूम मचा रहे थे। यानी हम चित्रकला में सौ साल पीछे थे।

यूरोप में 1900 से 1910 के बीच कहानी आंदोलन को चेखव, मोंपासा और ओ. हेनरी ने चरम पर पहुंचा दिया था। भारत में वैसी कहानियां सन् 1950 के बाद लिखी गईं। भारतीय शास्त्रीय संगीत अपने आप में इतनी सशक्त विधा रही कि पश्चिमी संगीत भारत में केवल फिल्मों के जरिए या अंग्रेजों के जाने के बाद ही अपना प्रभाव दिखा पाया।

सन् 1913 में दादा साहेब फालके ने फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' बनाकर भारत को विश्व सिनेमा के समकक्ष खड़ा कर दिया। जब पहली बार लोगों ने सफेद पर्दे पर तस्वीरों को चलते-फिरते देखा तो वे हतप्रभ रह गए। लोग एक ऐसे तिलिस्म में डूब गए जो उनकी समझ से परे था। यह मूक सिनेमा का युग था। सन् 1913 से 1930 तक सिनेमा को एक चमत्कार की तरह लिया गया। इस समय में फिल्म निर्माण का श्रीगणेश पौराणिक, धार्मिक और ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से किया गया। यह उस वक्त के सामाजिक जीवन के अनुकूल भी था, क्योंकि विज्ञान और तर्कसम्मत बातें भी उस दौर में धार्मिक आख्यानों के माध्यम से समझाई जा सकती थीं। इस दौर में सती विषयक फिल्में खूब बनीं और बिकीं।

इसके पश्चात 1931 से जब सवाक् फिल्मों का युग आया तब यह दूसरा चमत्कार था। पर्दे पर चलने-फिरने वाली तस्वीरें अब बोलने भी लगी थीं। भारत में अंग्रेजों का कठोर प्रशासन और आम जनता का शोषण व दमन जारी था। बीच में प्रथम विश्वयुद्ध (1914 -1918) ने पूरे विश्व को हिला दिया, मगर भारतीय फिल्में अपनी पौराणिकता में ही डूबी थीं। ऐसे समय में जब आजादी की लड़ाई ने जोर पकड़ा और राजनीतिक परिदृश्य पर गांधीजी का पदार्पण हुआ तब फिल्मों में भी सामाजिक चेतना की कुछ झलक दिखाई देने लगी। अगले बीस वर्षों का काल ऐसी फिल्मों का रहा जब फिल्म निर्माताओं ने सामाजिक सरोकार के विषयों को अपनाया। सतीप्रथा के विरुद्ध कानून बना, स्त्री शिक्षा पर जोर दिया जाने लगा। स्वदेशी का प्रचार और कुरीतियों के खिलाफ जन-जागरण की गूंज भी सुनाई पड़ने लगी।

आजादी मिलने के बाद 1950 से 1970 तक देश के नवनिर्माण के विषयों पर बनी फिल्मों का दौर रहा। अगले दो दशकों में भारतीय सिनेमा के परिदृश्य में काफी बदलाव आया। 'शोले' फिल्म सुपर-डुपर हिट हुई। गली-गली में गब्बर की आवाज गूंजने लगी। इसी दौर में पारिवारिक रिश्तों से त्याग और सेवा की भावना विदा लेने लगी। रिश्तों में दरार दिखाई दी। पर्दे पर संयुक्त परिवार की अवधारणा टूटने-बिखरने लगी। 'बैंडिट क्वीन' और 'जंगल' जैसी फिल्मों में हिंसा संवेदनाओं को खत्म कर देने की पराकाष्ठा तक पहुंच गई। हिंसा से ऊबे दर्शकों ने एक बार फिर परिवार, परंपरा और रूमानियत की ओर लौटना पसंद किया। बॉलीवुड में बनने वाली फिल्मों की सफलता का राज यह है कि वह आरंभ से ही किशोरों को प्यार का सपना बेच रही हैं। दर्शक वही सपने देखना पसंद करता है जिसकी चाह उसे रही पर जीवन में उसे मिल नहीं पाया। आज सामाजिक जीवन बिल्कुल बदल चुका है, सदी ने नई करवट ली है, माहौल में आपाधापी है, समय की कमी है, दृष्टिकोण के साथ जीवनधारा में भी बदलाव आया है। राजनीतिक अस्थिरता, महंगी जीवन पद्धति और सुविधाओं के विस्तार के साथ ही जीवनधारा भी बदल गई है। अतः मनोरंजन की कसौटियां भी बदल गई हैं। ऐसे में हम यह कह सकते हैं कि संबंधों की भावात्मकता और रूमानियत की भीनी खुशबू पुनः लुभाने लगी है। यह तो बात पसंदगी की है, जहां तक कामयाबी का सवाल है फिल्मों की सफलता का कोई निश्चित फार्मूला नहीं बन सका है लेकिन उसी धुरी पर मनुष्य घूम रहा है।



लेखक की गुणवत्ता सार्थकता में है !

• कभी-कभी लगता है, आज साहित्य एवं साहित्यकार के पास कुछ भी नहीं है। ऐसा कि जैसे फिल्मी सितारे के पास लटके-झटके होते हैं। मगर नहीं, आज पुरस्कार और सम्मान के लिए सिफारिश का षड्यंत्र एवं दलबंदी का कुचक्र ही नहीं है, वह सब कुछ भी है जो साहित्य एवं साहित्यकार के चरित्र, व्यक्तित्व और कृतित्व से निसृत होकर सामने आता है, जिसे पाठक पसंद ही नहीं करते, बल्कि उद्वेलित और तरंगित भी होते हैं। उनका मानवीय पक्ष प्रभावित होता है, वे एक आयाम पाने में सफल भी होते हैं। यह अभी संभव है।

ऐसा मुझे *आजकल* (अप्रैल 2006) पढ़कर लगा। खासकर जीवन के सच और रचना के सच का विश्लेषण करते हुए प्रयाग शुक्ल का साहित्यिक आलेख उनके अनुभवों से गुजरने के बाद बहुत कुछ प्राप्त हुआ। सचमुच एक सच्चा साहित्यकार वही है जो अपने अनुभवों को जीवन और आम आदमी से लेकर पूरे मानव समाज को शब्दों की माला बनाकर उसे सार्वजनिक बना दे। प्रयाग शुक्ल जी वैसे ही साहित्य के कीर्तिस्तम्भ हैं। उनका यह कहना कि 'रचना का सच, जब तक जीवन का सच न बने और हम भी उसे अनुभूत न कर सकें, हम जो पाठक हैं, श्रोता हैं, दर्शक हैं तब तक वह रचना का सच बनता नहीं है न ही बन सकता है।'' एक विशाल फलक को आंखों की जमीन पर संवेदना के हाथों से परोसना ही साहित्य की वास्तविक धारा है। बहुत गहरे आयाम को प्रकट करते हैं प्रयाग शुक्ल के विचार।

इसी तरह पंकज बिष्ट का 'आत्मकथ्य' पढ़कर चमत्कृत हुआ। उन्होंने एक साथ बड़ी संवेदना और मार्मिकता के साथ हिंदी साहित्य, हिंदी पुस्तक, हिंदी प्रकाशक और हिंदी पाठकों की दशा एवं दिशा का परिदृश्य समाधानयुक्त ढंग से स्पष्ट कर दिया है। बहुत कुछ उन्होंने कहा है, ''एक लेखक की सार्थकता का संबंध मात्र लिखते चले जाने में नहीं है, बल्कि जो लिखा गया है उसकी गुणवत्ता यानी सार्थकता में है।'' -इस कथन से नई पीढ़ी के साहित्यकारों को शिक्षा लेनी चाहिए। मीडिया के बारे में उन्होंने अपने आत्मकथ्य में ठीक ही कहा है कि ''पूरा मीडिया सत्य का नहीं प्रपंच का संवाहक हो गया है बाजार के प्रपंच का।''

स्वयं प्रकाश से लक्ष्मण व्यास द्वारा लिया गया उनका साक्षात्कार किसी भी मायने में कमतर नहीं है। काफी आह्लादित किया उनके विचारों ने, कविताएं भी उत्प्रेरित करती हैं।

-उमाशंकर राव 'उरेंदु' (झारखंड)

आकर्षक अंक

• *आजकल* का अप्रैल अंक सामने आया। उम्मीद थी कि कोई न कोई नाटक जरूर सामने आएगा। याची एक रंगकर्मी है और 'साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियां' स्तम्भ से संतोष करने को विवश है। हालांकि निर्मला सिंह की कहानी 'वक्त की करवट' देवेन्द्र कुमार की कहानी 'खेल', हरदर्शन सिंह की कहानी 'खोये हुए रास्ते उर्फ चांद मुहम्मद' बहुत ही रुचिकर लगी। जिसे बार-बार पढ़ो, तो भी मन न भरे। सुप्रसिद्ध कथाकार स्वयं प्रकाश जी के साक्षात्कार से पता चलता है कि कुछ लिखने के लिए बहुत कुछ पढ़ना जरूरी है।

ज्योषित जोशी का आलेख 'युवा कलाकारों के चित्रों में उभरी कला' और रामावतार त्यागी जो दर्द भरे गीतों के सरताज हैं, उनके संबंध में जानकारी हुई। कविताएं, आत्मकथ्य, सिनेमा और बहुत कुछ जिसे आम पाठक पढ़ना चाहे, इस अंक के मुख्य आकर्षण हैं।

-'याची', मुगल सराय

पाठकों के लिए उपयोगी

• अप्रैल अंक में सुप्रसिद्ध कथाकार स्वयं प्रकाश से लक्ष्मण व्यास की बातचीत बहुत पसंद आई। स्वयं प्रकाश ने अपने संबंध में महत्वपूर्ण बातें कही हैं जो नये लेखकों-पाठकों के लिए उपयोगी हैं वहीं जब वे कहानी के संबंध में प्रस्थापनाएं करते हैं तो वे जनता की समझ को विकसित करते हैं, जैसे कहानी का प्राथमिक गुण रोचकता होना चाहिए। अच्छा होता उनकी कोई कहानी और उनके कथा-संसार पर भी एक लेख होता।

-गजेंद्र मीणा, उदयपुर (राजस्थान)

स्तरीय सामग्री

• स्तरीय सामग्री पाकर, मन बेहद प्रसन्न हो रहा है। वरिष्ठ रचनाकार श्री शेरजंग गर्ग ने गीतकार रामावतार त्यागी के रचना संसार से और उनके व्यक्तित्व का अच्छा आकलन किया है। प्रत्येक सृजनशील साहित्यकार का जीवन बड़ा कष्टसाध्य होता है। अनेक कष्टों-दुखों से जूझते हुए, संघर्ष करते हुए, साहित्य सृजन करते हैं। ऐसे छांदिक विभूति श्री त्यागी का गीत सृजन में विशिष्ट सम्मान है और रहेगा। श्री त्यागी के कुछ गीत पढ़कर, आनंद आ गया। ये पंक्तियां हृदय को छू गईं:

हमें हस्ताक्षर करना न आया चेक पर माना / मगर दिल पर बड़ी कारीगरी से नाम लिखते हैं।
दर्द जब पास था, हम शहंशाह थे, दर्द जब से गया, बेसहारे बने।

कथाकार स्वयं प्रकाश से लिया गया साक्षात्कार अच्छा लगा। कुमार रवीन्द्र की चार कविताएं पढ़ीं। अरे सुजाता गीत, समय का दस्तावेजी गीत है। गीत के माध्यम से ऊंचे लोगों की सडांध भरी जिन्दगी का चित्र उभर आता है। कुल मिलाकर अप्रैल का यह अंक श्रेष्ठ है।

-अब्दुल सतार अन्जान, उज्जैन (म. प्र.)

सार्थक विवेचन

• अप्रैल अंक में मुखपृष्ठ पर अनिता दिनेश की पेंटिंग मनभावन है। मैं अमरनाथ कभी गया नहीं, शायद कभी जा भी नहीं पाऊंगा किंतु इस पेंटिंग को देखकर ऐसा लगता है जैसे शिवत्व मुझसे अधिक दूर नहीं है। यह शिवत्व ही हमें उत्तर आधुनिकता की बेचैन चपेट से बचाएगा।

प्रयाग शुक्ल ने अपने लेख में (रचना का सच) सच का सार्थक विवेचन किया है। बात को बहुत घुमाने-फिराने की

आवश्यकता नहीं है। जीवन का सच और रचना का सच दो अलग चीजें नहीं हैं।

रामावतार त्यागी के बारे में बहुत जानकारी नहीं थी। आलेख 'रामावतार त्यागी' (शेरजंग गर्ग) ने इसमें इजाफा किया। हिंदी गीत की चर्चा जब-जब होगी, रामावतार जी को सादर याद किया जाएगा। कानपुर के कवि सम्मेलनों में दो बार उनको सुनने का सुअवसर इस अकिंचन को भी प्राप्त हो चुका है। रामावतार जी जैसा कोई दूसरा नहीं है।

आजकल के पूर्व सम्पादक पंकज बिष्ट का आत्मकथ्य 'अर्थ की तलाश में' अभिभूत कर गया। पंकज जी अपने भाव व विचार से बिल्कुल अलग दिखाई पड़ते हैं। यह किसी सुसाधना का ही सुपरिणाम है अन्यथा :

दिग्भ्रमित बहुत है साहित्यकार भी,
राजनीति ही केवल भ्रष्ट नहीं है।।

लक्ष्मण व्यास द्वारा लिया गया सुप्रसिद्ध कथाकार स्वयं प्रकाश का साक्षात्कार बताता है कि साहित्यकार बनने के लिए कितनी कठिन तपस्या की आवश्कता होती है। लिखने की प्रथम शर्त है पढ़ना और आजकल पढ़ता कौन है। जब तक स्वयं प्रकाश जी जैसे रचनाकार हिंदी में हैं, हिंदी को निराश होने की आवश्यकता नहीं है।

अंक की कविताएं विशेष ध्यानाकर्षित करती हैं। नरेंद्र इष्टवाल की कविता 'कविता तुम' सर्वाधिक पसंद आई।

तीनों कहानियां पठनीय हैं, देवेन्द्र कुमार की कहानी 'खेल' ने तन-मन को झकझोर कर रख दिया। एक उत्तम कहानी देने के लिए लेखक को अनेकशः बधाइयां।

पत्रिका के हर अंक में सबसे पहले मैं आपका स्थाई-स्तम्भ 'पत्र' पढ़ता हूं। पाठकों के पत्रों को आप जितना महत्व देते हैं, उससे यह हिंदी भाषा व साहित्य की एक सम्पूर्ण पत्रिका बन जाती है।

–सार्थ, कानपुर (उ. प्र.)

सटीक संपादकीय

● आपका संपादकीय काफी दिलचस्प है। सच है, आतंक फैलाने वाले दरिन्दों का कोई दीन/सम्प्रदाय नहीं होता? कोई संस्कृति नहीं होती? स्वर्ग या अदेखे जन्नत के लिए धर्म/ मजहब के नाम पर निर्दोषों को मौत के घाट उतारना दानवता का ही काम है। ऐसे काले कारनामे करने और करवाने वाले आतंकवादियों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कहीं भी विस्फोट करके वह अपनी मनोकामना को पूर्ण रूप नहीं दे सकते, उनके ऐसा करने से मानवीयता की रोशनी समाप्त नहीं हो सकती। सभी हिंदुस्तानी भाई-भाई हैं। हमें हिंदुस्तानियत पर गर्व है। उन्माद कैसा भी हो ज्यादा दिनों तक उसका ठिकाना नहीं?

आलेख 'रचना का सच', दर्द भरे गीतों के नायक रामावतार त्यागी और कहानी 'खेल' स्तरीय रचना है, अच्छी लगी। समीक्षाएं पूर्वाग्रह से मुक्त होकर लिखी जानी चाहिए, ताकि लेखक और पाठक दोनों का मार्गदर्शन हो। समालोचना गद्य की कसौटी होती है इसलिए कहा जाता है कि आलोचक का दिमाग लेखक के दिमाग से बड़ा होना चाहिए।

–इसरार अर्क, जे.पी. नगर (उ.प्र.)

सार्थक वक्तव्य

● अंक कई मायनों में बहुत समृद्ध है। प्रयाग शुक्ल का लेख 'रचना का सच' लेखकीय समझ विकसित करने वाला है। गीतकार रामावतार त्यागी पर शेरजंग गर्ग का लेख त्यागी जी के रचनात्मक अवदान को रेखांकित करता है। स्वयं प्रकाश का साक्षात्कार उनके स्वयं पर प्रकाश डालने वाला है। अपनी पृष्टिपूर्ति के अवसर पर पंकज बिष्ट का आत्मकथ्य 'अर्थ की तलाश में' बहुत सार्थक बन पड़ा है। कविताओं के चयन में किंचित बदलाव की आवश्यकता है। व्यंग्य को लेकर *आजकल* की उपेक्षा समझ से परे है।

–रामस्वरूप दीक्षित, टीकमगढ़ (म.प्र.)

सर्वधम्म समान

● *आजकल* का अप्रैल अंक पढ़ा। 'प्रसंगवश' सर्वधम्म समान विचारक के रूप में प्रकट करने की एक आंदोलित चेष्टा है, काफी सराहनीय है। *आजकल* खुला मंच की तरह है जिसमें साहित्यिक मूल्यों की सभी धाराएं एवं उनका संगम होता है। रचना का सच, प्रयाग शुक्ल का विवेचन साहित्य समाज के लिए प्रेरणास्रोत है। रचना सच की संवाहिका है, सार्थक मुक्ति है। दर्द भरे गीतों का गायक रामावतार त्यागी के व्यक्तित्व और कृतित्व से शेरजंग गर्ग ने जो परिचय कराया है उससे लगता है कि एक कवि के लिए साहित्य कितना अहम है, इसका एहसास उनकी जीवंत व कालजयी रचना से होता है। पंकज बिष्ट ने आत्मकथ्य में साहित्यकारों की प्रवृत्तियों के संदर्भ में अपने विचार रखे हैं। रामराज की कल्पनावश ही ऐसे विचार उद्धृत हुए हैं। दुनिया एक जगह सिमट गई है सभी चीजें बाजारू हो गई हैं।

–रफी अहमद आफताब, मोतिहारी

प्रभावशाली संपादकीय

● संपादकीय स्तंभ 'प्रसंगवश' में आपने सही लिखा है कि आस्था के पवित्र स्थलों पर हमला करने वालों का कोई धर्म नहीं होता है। वाराणसी में पाक-प्रेरित लश्करे तैयबा के आतंकवादी हत्यारे ने बम विस्फोटों में 7 मार्च को 26 निर्दोष लोगों की हृदय विदारक हत्या की। संकटमोचन मंदिर तथा कैंट रेलवे स्टेशन पर सौ से अधिक लोगों को घायल कर दिया। ये आतंकवादी सभ्यता-संस्कृति और अमन-शांति के दुश्मन हैं। ऐसे आतंकवादी समय में सावधानी के लिए आपकी चेतावनी सही है कि हमें सजग व एकजुट रहना चाहिए। हिंदू-मुस्लिम ईसाई सभी हैं भाई-भाई! *गीता, कुरान* का एक ही संदेश है जैसे कि शायर इकबाल ने कहा :

मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना।
हिंदी हैं हम वतन है हिंदोस्तां हमारा।।

भारत में जन्मे-पले सभी भारतीय भाई हैं। हम भारतवासियों को एकजुट होकर आतंकवाद की चुनौती को जवाब देना है। 'प्रसंगवश' मन को सचेत करनेवाला प्रासंगिक व प्रभावशाली संपादकीय है। शेष रचनाएं सार्थक हैं।

–कुशल करण सांचौहर, जोधपुर

दर्पण की तरह

● कम मूल्य में बहुमूल्य बातें सर्वत्र नहीं मिलती हैं। *आजकल* साहित्य संसार के लिए दर्पण की तरह है। साक्षात्कार, कहानी, कविताएं, पुस्तक चर्चा, पुस्तक समीक्षा और

साहित्यिक गतिविधियां सुंदर पुष्पवाटिका के विविध पुष्प की तरह हैं।

संपादकीय 'प्रसंगवश' की जितनी प्रशंसा की जाए कम है। *आजकल* के इस अंक में दर्द भरे गीतों के गायक रामावतार त्यागी के बारे में बहुत-सी बातें जानने को मिलीं। त्यागी जी की यह पंक्ति नई दिशा देने में सक्षम है :

सुख तो कोई दुर्लभ-सी वस्तु नहीं
जब चाहो आदर के बदले ले लो
दुनिया को अपनी पावनता दे दो
फिर चाहे जिस सिंहासन से खेलो।

प्रख्यात साहित्कार पंकज बिष्ट का वक्तव्य कई अनछुए पहलुओं को रेखांकित करता है। उनका मानना है कि साहित्य के नाम पर राजनीति करने से साहित्य और साहित्यकार की कोई छवि नहीं बनती है। यह बिल्कुल सच है।

निर्मला सिंह की प्रेम-कहानी 'वक्त की करवट' मुझे अच्छी लगी। रेणु सिंह की कविताएं मन को भा गयीं।

–मनानन्द 'हर्ष', पूर्णिया (बिहार)

सारगर्भित

● अप्रैल अंक देखते हुए कुछ हद तक संतुष्ट हुआ जा सकता है। जीवन और रचना के सच पर प्रयाग शुक्ल का आलेख अच्छा लगा। रामावतार त्यागी पर शेरजंग गर्ग का लेख अच्छा है। नि:संदेह त्यागी एक श्रेष्ठ गीतकार रहे हैं। जिन्होंने मंच को गीतमय बनाया था। मेरा आप से अनुरोध है कि एक आलेख उन्हीं की कड़ी के एक वरिष्ठ गीतकार डा. शिव बहादुर सिंह भदौरिया पर देने का कष्ट करें। भदौरिया को लोग भूलते जा रहे हैं। यदि आप न लिखवा सकें तो मुझे बताएं मैं भदौरिया पर कुछ-न कुछ अवश्य लिख सकता हूं। पंकज बिष्ट का आलेख 'अर्थ की तलाश में' बहुत ही सारगर्भित है। उन्होंने कुछ जरूरी बातें उठायी हैं जिन पर हम सबको गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। स्वयं प्रकाश जी ने अपने साक्षात्कार में कहा है कि अपने समय के प्रश्नों से कतराकर कोई भी रचना कालजयी नहीं बन सकती, बिल्कुल सत्य है। अन्य आलेख भी अच्छे हैं। डा. हरदयाल का लेख भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। विपिन शर्मा, रेणु सिंह की रचनाएं अच्छी हैं। कुमार रवीन्द्र के गीत अच्छे बन पड़े हैं।

–वाई.वेदप्रकाश, इलाहाबाद

गंभीर–विमर्श

● 'प्रसंगवश...' आपने ठीक ही कहा कि आतंकियों का कोई धर्म नहीं होता, जाति नहीं हुआ करती। वे केवल आतंकी होते हैं, आतंक और विद्वेष फैलाकर अपना स्वार्थ-सिद्ध करना चाहते हैं, ऐसी नाजुक स्थिति में आपसी सौहार्द बनाकर ही हम उनके गलत मंसूबे को नाकामयाब कर सकते हैं। प्रयाग शुक्ल का साहित्य पर आलेख 'रचना का सच' सच की बारीकियों पर गहन छानबीन है।

पंकज बिष्ट का आत्मकथ्य 'अर्थ की तलाश में' जिन सच्चाइयों का सामने लाता है, गंभीर विमर्श की मांग करता है।

'युवा कलाकारों के चित्रों में उभरी कला' चित्रकला पर ज्योतिष जोशी की समीक्षात्मक टिप्पणी अच्छी लगी।

फिल्म 'रंग दे बसंती' पर अखिलेश झा की प्रतिक्रिया 'नई पीढ़ी के ये सरफरोश' अर्थपूर्ण जान पड़ी।

पुस्तक चर्चा में 'कब्रिस्तान में पंचायत' (केदारनाथ सिंह), पर डा. हरदयाल की समीक्षा 'गद्य का लालित्य' पुस्तक के देखने-परखने की ओर ध्यान खींचती है।

–उमेश प्रसाद वर्मा 'उमेश', भागलपुर

आजकल का ग्राहक बनें :

मैं आपकी पत्रिका *---------- का ☐ एक वर्ष (70 रुपये)

☐ दो वर्ष (135 रुपये) ☐ तीन वर्ष (190 रुपये) का ग्राहक बनना चाहता हूं।

चंदे का रुपये---------- भारतीय पोस्टल आर्डर/ मनीआर्डर / डिमांड ड्राफ्ट सं----------दिनांक---------संलग्न है।

हस्ताक्षर ----------

नाम :----------

पता : ----------

पिन : ☐☐☐☐☐☐

● कृपया अपना चंदा डी.डी./ पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर, *निदेशक, प्रकाशन विभाग* के नाम बनाएं।

● पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।

● दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएं हैं : *बाल भारती, आजकल* (उर्दू), *कुरुक्षेत्र* (हिंदी व अंग्रेज़ी), *योजना* (हिंदी, अंग्रेज़ी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)।

चंदा निम्न पते पर भेजें :

विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग, ईस्ट ब्लाक 4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली--110066

प्रपंच का संवाहक

• 'रचना का सच' में बिल्कुल सच लिखा गया है कि रचना के मर्म का परीक्षण सच पर ही होता है, लेकिन सवाल है आखिर जब यह सच अनिवार्य नियति है तो आम जन के साथ-साथ रचनाकार भी इस दायित्व से विमुख क्यों होते जा रहे हैं। बाजारवादी संक्रमित दशा में वे भी तो स्वयं कहीं अधिक लाभान्वित होते दिख रहे हैं। दर्द भरे गीतों के अलबेले गायक रामावतार त्यागी के बारे में जानकारी रोमांचित कर गई, बल्कि कहें तो ऐसे व्यक्तित्व उम्र में नहीं जीते बल्कि चिरकाल तक उनके गीत लोगों को अपने दर्द का अहसास कराते रहेंगे।

पंकज बिष्ट की उक्ति दिल को हमेशा झकझोरती रहती है। 'पूरा मीडिया सत्य का नहीं प्रपंच का संवाहक हो गया है' इस व्यथित मनोमस्तिष्क को मीडिया से क्या यही आशा थी, विशेषकर आज की सामाजिक व्यवस्था के आलोक में! आखिर लोग उम्मीद भी किससे करें? चुनौतियों के खतरे यथास्थिति के आनंद से कई गुना ज्यादा आह्लादकारी होते हैं।

कथाकार स्वयं प्रकाश के एक गुरु की कही यह बात लेखकों के लिए मानो चुनौती-सी है कि 'कठिन लिखना बहुत सरल है लेकिन सरल लिखना बहुत कठिन है'। दुर्भाग्य से आज का साहित्य इन पहलुओं को नजरअंदाज करता ही प्रतीत होता है।

कहानी 'वक्त की करवट' मनोमस्तिष्क पर यथार्थ का चित्रांकन करती चली गयी। सच में यह तो वही मस्तिष्क अनुभव कर सकता है जिसका जीवन संघर्ष करते-करते गुजर गया और शायद यह नियति का यथार्थ है कि जब मनुष्य जीने योग्य महसूस करता है तो उसे काल का जबर्दस्त तमाचा लगता है।

–मिथिलेश कुमार, भागलपुर

संग्रहणीय

• अप्रैल अंक में रामावतार त्यागी जी पर कुछ जानकारियों को पढ़ने का अवसर कई वर्षों बाद मिला... जब तक वे जीवित रहे उन्हें खूब पढ़ा और उन पर प्रकाशित सामग्री को संग्रहीत किया मगर समुचित रखरखाव के अभाव में नष्ट हो जाने का बड़ा दुख हुआ।

कहानियां इसमें यूं तो तीन प्रकाशित हुई हैं लेकिन सर्वाधिक मन भाई निर्मला सिंह की 'वक्त की करवट'। कविताओं में रेणु सिंह की दोनों कविताएं अच्छी लगीं। साक्षात्कार स्वयं प्रकाश जी का और पंकज बिष्ट का आत्मकथ्य भी सारगर्भित लगा।

–राजेन्द्र कृष्ण श्रीवास्तव, लखनऊ

अच्छी कविताएं

• आवरण पर ही अनिता दिनेश की पेंटिंग अमरनाथ की यात्रा थी। काफी आकर्षक आवरण था। 'रचना का सच' में प्रयाग शुक्ल ने बड़ी ही खूबसूरती से एक ऐसे विषय को छुआ है, जिसकी अवहेलना कोई भी रचनाकार नहीं कर सकता है। जीवन का सच ही अलग-अलग विधाओं में पाठकों तक पहुंचता है।

हरदर्शन सहगल की कहानी कुछ ज्यादा दमदार नहीं लगी। देवेन्द्र कुमार के 'खेल' ने प्रभावित किया। इस अंक की कविताएं ज्यादा पसंद आईं।

रामावतार त्यागी के बारे में पढ़ना अपने-आपमें कितनी कोशिकाओं को टूटते हुए देखना था। जो कभी दर्द से, कभी खुशी से तो कभी कुतूहलवश टूटती रहीं। रामावतार त्यागी जैसे सच्चे साहित्यसेवी आजकल दुर्लभ हैं।

–नवनीत कुमार झा, मधुबनी (बिहार)

रोचक सामग्री

• *आजकल* अप्रैल अंक की कविताओं में जहां रमेश सिद्धार्थ की 'पिंजरे में बंद चिड़िया' औरत की विवशता प्रस्तुत करती है, वहीं विपिन कुमार शर्मा की 'लौट आओ धार' सोचने पर मजबूर करती है।

साक्षात्कार के अंतर्गत प्रसिद्ध कथाकार स्वयं प्रकाश की अभिव्यक्ति कुछ विशेष शिक्षा देती है। कहानियों में 'वक्त की करवट' आखिरी पड़ाव में मार्मिक बन पड़ी है, अच्छी है। रामावतार त्यागी जी के गीत *चेहरे पढ़े हैं गौर से हर खासोआम के / लिक्खा है हम गुलाम हैं वह भी गुलाम के–* बोल सदा याद रखने लायक हैं। कुल मिलाकर सभी सामग्रियां पठनीय एवं रोचक हैं।

–पंकज कुमार साह, दुमका

आजकल की विज्ञापन दरें

	एक अंक के लिए		चार अंकों के लिए	
	रंगीन	श्वेत-श्याम	रंगीन	श्वेत-श्याम
पूरा पेज	8000	4000	25600	12800
आधा पेज	5000	2500	16000	8000
अंतिम आवरण	13000	7000	41600	22400
दूसरा अथवा तीसरा आवरण	11000	6000	32200	
		19200		

तकनीकी विवरण

संपूर्ण आकार	21 सेंमी / 28 सेंमी
प्रिंट एरिया	17 सेंमी / 24 सेंमी

डिमांड ड्राफ्ट " निदेशक, प्रकाशन विभाग" को देय होना चाहिए।

विज्ञापन एजेंसियों को 15 प्रतिशत एजेंसी कमीशन दिया जाएगा।

संपर्क करें:

विज्ञापन व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग

ईस्ट ब्लाक-4, लेवल-7,
रामकृष्णपुरम, सेक्टर-1, नई दिल्ली-110066
फोन : 26105590 , फैक्स : 26175516 / 26193012

जैनेन्द्र के उपन्यासों में स्त्री

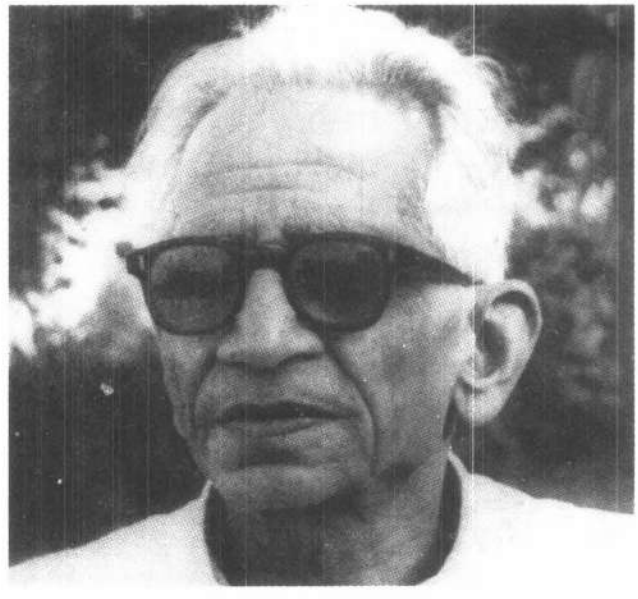
जैनेन्द्र के लिए स्त्री केवल पत्नी, बेटी, मां, बहन, प्रेयसी नहीं बल्कि इन सबसे परे एक स्वतंत्र व्यक्तित्व है, जिसकी अपनी आशाएं, आकांक्षाएं और द्वंद्व हैं जिसे उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में चित्रित किया है / जैनेन्द्र की नायिकाएं हमें झकझोरती नहीं, न समकालीन नायिका प्रधान उपन्यासों में प्रयुक्त बिंबों की तरह एक तिक्त वास्तविकता के आस्वाद से विक्षुब्ध करती हैं / जैनेन्द्र के कथा साहित्य में स्त्री पात्रों की विवेचना कर रही हैं **पूनम कुमारी**

हिंदी साहित्य में पहली बार जैनेन्द्र के उपन्यासों में ही स्त्रियों के एक नये संसार, एक नये समाज और सबसे बढ़कर एक नये मनुष्य के रूप में हमारा परिचय होता है। *परख* से लेकर *व्यतीत* तक स्त्री ही उनके उपन्यासों के केंद्र में है। जैनेन्द्र से पहले भगवती चरण वर्मा, वृंदावनलाल वर्मा आदि ने भी स्त्री पात्रों को केंद्र में रखकर उपन्यासों की रचना की है। लेकिन हिंदी साहित्य में इसे एक प्रवृत्ति के रूप में विकसित करने का श्रेय जैनेन्द्र को ही है। जिस प्रकार प्रेमचंद ने समाज के बिल्कुल उपेक्षित और अब तक हाशिए पर रखे जाने वाले लोगों को अपने कथा-संसार का नायक बनाया और भारतीय साहित्य विशेषत: हिंदी साहित्य में नायक की परंपरागत अवधारणा को बदल डाला, लगभग उसी प्रकार जैनेन्द्र ने भी अनुगामिनी, अनुचरी, पत्नी, बहन, मां, बेटी इन सब से अलग एक 'व्यक्ति' के रूप में स्त्री को चित्रित करते हुए उसे 'नायक' की सम्मानजनक कुर्सी पर बिठाया।

जैनेन्द्र के उपन्यासों के विस्तृत नारी संसार में प्रथम वर्ग उन आत्मपीड़ित स्त्रियों का मिलता है जो सामाजिक रूढ़ियों, मान्यताओं और वर्जनाओं के बीच आत्म-संघर्ष करती हुई इन सबका विरोध तो करती हैं, परंतु मुखर रूप में प्रकटत: नहीं। कई बार इस क्रम में उन्हें स्वयं भी टूट जाना पड़ता है। ऐसी नायिकाओं में- मृणाल, कल्याणी, इला और वसुंधरा आदि के नाम लिए जा सकते हैं। *त्यागपत्र* की नायिका मृणाल का जीवन एक दुखी भारतीय स्त्री पर होने वाले अत्याचारों का खुला दस्तावेज है। मृणाल का संपूर्ण जीवन भारतीय नारी की अंत:व्यथा की मार्मिक प्रस्तुति है। परंतु परंपरागत मूल्य, आदर्श, मान-मर्यादाएं, झूठे संस्कार उसके अवचेतन, चेतन में इस प्रकार जमे हैं कि इन रूढ़ियों को तोड़कर बाहर निकलने में वह अपने को असमर्थ पाती है।

मृणाल कहती है कि मैं स्त्री धर्म को मानती हूं। उसका स्वतंत्र धर्म मैं नहीं मानती। क्या पतिव्रता को यह चाहिए कि पति उसे नहीं चाहता तब भी वह अपना भार उस पर डाले रहे? मुझे देखना भी नहीं चाहते, यह जानकर मैंने उनकी आंखों के आगे से हट जाना स्वीकार कर लिया। उसी के शब्दों में, ''मेरा डूबना-मरना इतना आसान नहीं है भाई। अभी जाने कितने थपेड़े और खाने हैं।''

वस्तुत: मृणाल का सारा व्यक्ति स्वातंत्र्य का संघर्ष अकेली स्त्री का है, जिसके समर्थन में पुरुष वर्ग की तो बात ही क्या (प्रमोद को छोड़कर जो



जैनेन्द्र

उसके साथ आत्मिक सहानुभूति रखता है) स्त्री वर्ग में से भी कोई नहीं आया था। फिर संगठित पुरुषवर्चस्वादी समाज के विरुद्ध अकेली स्त्री का संघर्ष भला कब तक चलता। अत: सब तरफ से टूट चुकी मृणाल कहती है- ''मैं समाज तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूं। समाज टूटा कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे? या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे? इसलिए मैं इतना ही कह सकती हूं कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद ही टूटती रहूं।'' यहां मृणाल के इस कथन से आधुनिक स्त्री की असहमति समाज की मंगलाकांक्षा में खुद टूटने की आकांक्षा के कारण नहीं बल्कि दकियानूसी और अस्वीकार्य तत्वों के सामने घुटने टेकने से है।

आज की स्त्री की सोच मृणाल से नहीं प्रमोद से मिलती है, जो सोचता है- ''कुछ होना चाहिए, कुछ करना चाहिए। कहीं कुछ गड़बड़ है। कहीं क्यों, सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। सृष्टि गलत है, समाज गलत है। जीवन ही गलत है, यह सारा चक्कर ऊटपटांग है। इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं

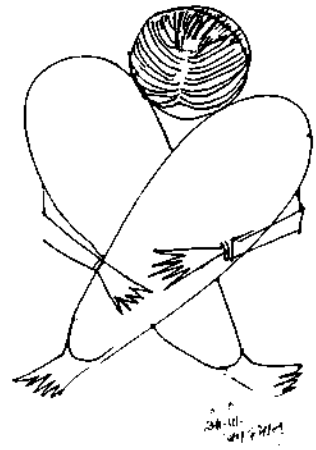
है, कुछ नहीं है। इसे जरूर कुछ करना होगा, कुछ होना होगा।''

आत्मपीड़क कल्याणी में जानलेवा बंधनों के प्रति आक्रोश है, स्त्री दासता के प्रति उसके मन में विद्रोह है। तभी वह कहती है- ''जीवन क्या है, एक शहादत है। शास्त्र कहते हैं- यज्ञ है, पर स्त्री-जीवन यज्ञ नहीं, उसका कुंड है।''

एक अन्य जगह देखें, ''स्त्री गौ नहीं है। गौ बनकर ही उसने अपना स्वत्व गंवाया। वह अब कुछ और बनकर अपने को पा सकती है।'' परंतु वह समाज को ललकारती नहीं, अपने लिए संघर्ष नहीं करती और भीतर ही भीतर घुटते हुए उस आक्रोश का दमन करती है और हिस्टीरिया की शिकार बनती है।

यद्यपि 'जयवर्धन' के इला का चरित्र मृणाल और कल्याणी से भिन्न है; तथापि जय के लिए आत्मोसर्ग करते हुए उसके मन में भी समाज के प्रति विद्रोह न होकर आत्म-त्याग की भावना है। सदियों से स्त्री के लिए निर्धारित प्रतिमान और आदर्श उसके मानस में इतने रच-बस गए हैं कि वह पुरुष से अलग अपने इतर अस्तित्व की कल्पना भी नहीं करती। उसकी समझ में ''पुरुष साथ किसी का नहीं लेता सिर्फ साथ देता है।'' पुरुष के पक्ष में वह उसकी अहंता ही नहीं है, जैसे स्त्री है जो साथ पकड़ती है। अवलंबिनी वह है, पुरुष केवल अवलम्ब है। फिर ''स्त्री कोमल है, जानते हो क्यों? इसलिए कि बल चाहती है। बल का प्रयोग चाहती है। उसके बिना वह अशांत है। सुनते हो, सब खतरे को शांत करने का उपाय है और स्त्री के लिए है वह पुरुष।''

'अनामस्वामी' की वसुंधरा का सम्पूर्ण जीवन अत्याचार और आत्मपीड़ा के दो पाटों में पिसा हुआ है। वसुंधरा अपने पूर्व प्रेमी उपाध्याय से बिछुड़कर उसी के हाथों कष्ट पाती है, फिर भी उसे उस यातना से कोई शिकायत नहीं। इन नायिकाओं के संदर्भ में कहा जा सकता है- ''दुख ही जीवन की कथा रही'' -स्पष्ट ही ये नायिकाएं समाज के नियमों-बंधनों में बंधकर अपने अस्तित्व को उसमें विलीन नहीं कर देना चाहतीं किंतु यथार्थ से टकराने में वे अपने को अक्षम पाती हैं और अंत तक आते-आते ये नायिकाएं किसी अयथार्थ सत्य या आदर्श की ओर झुक जाती हैं।



जिस समाज में प्रेमी के उल्लेख मात्र से स्त्री को गृह-निष्कासन का दंश झेलना पड़ता हो वहां क्या श्रीकांत, कांत, नरेश, मिस्टर पुरी जैसे पतियों की कल्पना की जा सकती है, जो न केवल अपनी पत्नियों के प्रेमिका रूप को स्वीकार करते हैं बल्कि उन्हें पूर्व प्रेमियों से मिलने और उन्हें सुमार्ग पर लाने का अवसर भी देते हैं। पतियों का यह आदर्श रूप जैनेन्द्र की अपनी परिकल्पना है जो यथार्थ से मेल नहीं खाती।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में दूसरा और महत्वपूर्ण वर्ग ऐसी स्त्रियों का है जो पत्नी और प्रेयसी के द्वंद्व में फंसी हुई हैं। सुनीता, सुखदा, भुवनमोहिनी और कुछ हद तक नीलिमा ऐसी ही नायिकाएं हैं। यद्यपि सुनीता के मन में पत्नी और प्रेयसी का द्वंद्व खड़ा करने में स्वयं श्रीकांत दोषी है। सुनीता के लिए तो पति ही उसका सर्वस्व है। उसके अनुसार, ''कहते हैं कि राष्ट्र विराट है, व्यक्ति स्वल्प है। ठीक, किंतु राष्ट्र मुझे अप्राप्त है, मेरे निकट प्राप्त तो व्यक्ति ही है। मेरे लिए सारा राष्ट्र, सारा समाज, सारा श्रेय जिस व्यक्ति में समा जाना चाहिए, वह तो मुझे प्राप्त मेरे स्वामी हैं। उनके चरण जहां-जहां धूलि पर पड़ते हैं उस धूलि के कणों में मैं अपने को खो दूंगी। तब मेरे पास स्वत्व शेष ही कब रहेगा जो तुम्हारे राष्ट्र को दूं।''

वह पतिनिष्ठ और पति की आज्ञा बल्कि दबाव से ही उसके मित्र हरिप्रसन्न को जीवन की विरक्ति से आसक्ति की ओर खींचती है। श्रीकांत अपने मित्र हरिप्रसन्न में नारी के प्रति आसक्ति जगाकर उसे सद्गृहस्थ बनाना चाहता है। उसे सुनीता की इच्छा-अनिच्छा, मनःस्थिति की कोई परवाह नहीं है। और सुनीता इतनी पराधीन कि परपुरुष से आसक्ति-अनासक्ति जैसे नितांत निजी मनोभावों में भी पति से ही परिचालित होती है। घर के अभावों से तंग आकर पति विमुख हो, भौतिक सुख साधन से सम्पन्न रंगीन मिजाजी लाल से जुड़ना और अंत में पश्चाताप की अग्नि, घुटन, टूटन परिणामतः सेनिटोरियम की शरण, यही सुखदा की कथा-व्यथा है।

पत्नी और प्रेयसी के घेरे में घिरी होने के बावजूद भुवनमोहिनी का जीवन अपेक्षाकृत सहज है। पूर्व प्रेमी जितेन की असामान्य ध्वंसकारी प्रवृत्ति का कारण स्वयं को मानकर वह उसे सही मार्ग पर लाने का प्रयास करती है। पतिपरायण भुवनमोहिनी विवाहपूर्व प्रेमी को सुमार्ग पर लाना अपना मानवीय कर्तव्य समझती है और इस समस्त प्रकरण में उसका पति नरेश उसका साथ देता है, सहानुभूति रखता है, संदेह नहीं करता।

'व्यतीत' की अनीता भी जयन्त की नारी विषयक कुंठा का जिम्मेदार खुद को मानते हुए उसकी एब्नॉर्मल स्थिति का उपचार करना अपना कर्तव्य समझती है। इस प्रक्रिया में वह अपने पति मिस्टर पुरी से सहायता भी लेती है। पति के प्रति उसकी निष्ठा, सतीत्व या पतिव्रत में कोई कमी नहीं है। वह जयंत को कोसती भी है- ''क्या अंधा है वह जो उसके माथे के तिलक और मांग के सिंदूर को छलना चाहता है।''

प्रश्न उठता है कि जिस समाज में प्रेमी के उल्लेख मात्र से स्त्री को गृह-निष्कासन का दंश झेलना पड़ता हो वहां क्या श्रीकांत, कांत, नरेश, मिस्टर पुरी जैसे पतियों की कल्पना की जा सकती है, जो न केवल अपनी पत्नियों के प्रेमिका रूप को स्वीकार करते हैं बल्कि उन्हें पूर्व प्रेमियों से मिलने और उन्हें सुमार्ग पर लाने का अवसर भी देते हैं। पतियों का यह आदर्श रूप जैनेन्द्र की अपनी परिकल्पना है जो यथार्थ से मेल नहीं खाती। इस समूचे प्रकरण का दूसरा पहलू भी महत्वपूर्ण है। स्त्री संबंधी तमाम प्रगतिशीलता के बावजूद जैनेन्द्र एक स्त्री को पति से विमुख होकर चलने की इजाजत नहीं देते हैं। स्त्री प्रगतिशीलता के सारे आयाम पतिव्रत और स्त्रीत्व के घेरे के भीतर ही चक्कर काटते हैं। उन्हें बाहर निकलने की अनुमति नहीं है। इसका कारण जैनेन्द्र के नारी संबंधी वैचारिक निबंधों में ढूंढ़ा जा सकता है। जिसमें उन्होंने स्त्री के लिए निश्चित आदर्श निर्धारित किए हैं।

उन्हीं के शब्दों में, "नारी के लिए मेरे ध्यान में परम आदर्श सतीत्व ही है। उसमें स्त्री के लिए अपने स्वरूप की संपूर्ण स्वीकृति है। यह गलत है कि स्त्री मातृत्व से विमुख कुछ चाहती है। दूसरी चाह विकार है, वह स्त्री का स्वरूप नहीं विरूप है। उस स्वरूप साधना का नाम सतीत्व है। पति नामक पुरुष सिर्फ उत्पादन है, अन्यथा सतीत्व स्त्री की स्वतंत्र साधना है। स्त्री उसी पद्धति से समष्टि लाभ के योग्य बनती है। दूसरी कोई स्वतंत्रता स्त्री के लिए भ्रम है। आर्थिक जैसी किसी स्वतंत्रता में वह अपने को सार्थक नहीं पा सकती, गृहिणी धर्म में ही उसकी समुचित परितृप्ति है।"

'मुक्तिबोध' की राजश्री और *परख* की गरिमा पति अनुगामिनी हैं। इनका जीवन इनके पतियों सहाय और सत्यधन की रुचि और इच्छा के अनुरूप ढला हुआ है। अपने पतियों की प्रेमिकाओं से भी इन्हें कोई ईर्ष्या-द्वेष नहीं है। राजश्री कहती है कि "धर्मपत्नी कभी अलग से गिनती के लिए नहीं हुआ करती है। उसका सब धरम पति के साथ होता है।" ये दोनों नायिकाएं उन तमाम पति अनुगामिनी स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो पति को देवता मानकर गृहस्थी के घेरे में निर्द्वंद्व होकर जीवनयापन करती हैं। इन्होंने पति में अपना अस्तित्व विलीन कर दिया है, कोई भी निर्णय इनका अपना नहीं है।

परख की कट्टो और *विवर्त* की तिन्नी आदर्श, त्यागशील प्रेमिकाओं के रूप में सामने आती हैं। कट्टो ने सत्यधन से और तिन्नी ने जितेन से निःस्वार्थ प्रेम किया था। इनका प्रेम देने के लिए है, लेने के लिए नहीं। अपने प्रेमियों के विरोध में ये एक शब्द नहीं बोलतीं। प्रेमी की इच्छा, अभिलाषा इनकी इच्छा अभिलाषा है। लेकिन दोनों अप्रत्यक्ष रूप से अपने प्रेमियों द्वारा छली जाती हैं। कट्टो को सत्यधन की इच्छानुसार बिहारी से सामाजिक दृष्टि में परिणयसूत्र में बंधना पड़ता है तो तिन्नी को जितेन की इच्छानुसार भुवनमोहिनी को स्वीकार करना पड़ता है।

जिस स्त्री को जैनेन्द्र ने स्त्री की परंपरागत छवि से मुक्त कर मानुषी का दर्जा दिया, उसकी समस्याओं के समाधान में उसे पुनः स्त्री की छवि में ही कैद कर दिया। इसीलिए उनकी नायिकाएं सामाजिक बंधनों को तोड़कर, कुरीतियों और रूढ़ियों के कांटे हटाकर नयी राह पर चलने की हिम्मत और जोखिम नहीं उठातीं। उनकी नायिकाएं अपने अधिकारों के लिए संघर्षशील नहीं हैं। इसीलिए जैनेन्द्र की नायिकाओं में व्यक्तिगत और सामाजिक स्थितियों से संघर्ष और तनाव की अभिव्यक्ति भर है।

जैनेन्द्र की उक्त सभी नायिकाएं स्त्री के एक खास दर्द और समाज में उनकी दोयम स्थिति की ओर संकेत करती हैं। जैनेन्द्र के लिए स्त्री केवल पत्नी, बेटी, मां बहन, प्रेयसी नहीं बल्कि इन सबसे परे एक स्वतंत्र व्यक्ति है, जिसकी अपनी आशाएं, आकांक्षाएं और द्वंद्व हैं, जिसे उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में चित्रित किया है। जैनेन्द्र की नायिकाएं हमें झकझोरती नहीं, न समकालीन नायिका प्रधान उपन्यासों में प्रयुक्त बिंबों की तरह एक तिक्त वास्तविकता के आस्वाद से हमें विक्षुब्ध करती हैं। बल्कि एक आम स्त्री की तरह अपने दुख और आक्रोश को दबाए रखती हैं। एक स्त्री की मनःस्थिति को समझने-समझाने का जैनेन्द्र का यह अपना बनाया हुआ रास्ता है जिस पर वे निहायत सधे हुए कदमों से धीरे-धीरे मगर पूरे विश्वास के साथ आगे बढ़ते हैं। इनकी नायिकाओं की वेदना और पीड़ा के अनुभव समाज और परिवार के बंधनों में जकड़ी हुई किसी भी पराधीन स्त्री के अनुभव हैं, इसलिए ये अनुभव उपन्यासों की नायिकाओं के होते हुए भी पूरी स्त्री जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं।

परंतु जिस तन्मयता और बारीकी से जैनेन्द्र स्त्री की मनःस्थिति, उसकी वेदना और पीड़ा का चित्रण करते हैं, उसकी समस्याओं के समाधान में उतनी ही शीघ्रता बरतते हैं। जिस स्त्री को जैनेन्द्र ने स्त्री की परंपरागत छवि से मुक्त कर मानुषी का दर्जा दिया, उसकी समस्याओं के समाधान में उसे पुनः स्त्री की छवि में ही कैद कर दिया। इसीलिए उनकी नायिकाएं सामाजिक बंधनों को तोड़कर, कुरीतियों और रूढ़ियों के कांटे हटाकर नयी राह पर चलने की हिम्मत और जोखिम नहीं उठातीं। उनकी नायिकाएं अपने अधिकारों के लिए संघर्षशील नहीं हैं। इसीलिए जैनेन्द्र की नायिकाओं में व्यक्तिगत और सामाजिक स्थितियों से संघर्ष और तनाव की अभिव्यक्ति भर है।

जैनेन्द्र की नायिकाएं पत्नी, प्रेयसी बनकर आत्मदान और आत्मपीड़न में ही अपने जीवन की सार्थकता मानती हैं। स्त्री संबंधी मिथकीय संस्कारों और परंपरागत धारणाओं को तोड़कर वे अपनी एक अलग पहचान बनाने हेतु संघर्षरत नहीं दिखतीं। इनकी नायिकाओं में वह साहस और गृहस्थहीन अकुंठ खुलापन नहीं है जो शिक्षा, आर्थिक आत्मनिर्भरता और बौद्धिक सजगता से आती है। फलतः इनकी नायिकाएं भारतीय समाज में स्त्री के लिए निर्धारित भूमिका के विरोध में साहसपूर्ण विकल्प का चयन करती प्रायः नहीं दिखतीं। इसका कारण जैनेन्द्र की स्वयं की स्त्री संबंधी अवधारणाएं हैं, जिनमें स्त्री के लिए पूर्व निर्धारित भूमिकाओं से परे जाना संगत नहीं है।

नारी संबंधी अपने विचारों में उन्होंने कहा है कि "स्त्री में कोमल गुणों की विशेषता है। वह उन गुणों द्वारा अपना दान समाज को देगी। यानी दौड़-धूप, व्यवस्था, संगठन और चुनावों की लड़ाइयों का क्षेत्र उसके अनुकूल क्षेत्र नहीं है।"

इसी संदर्भ में आगे कहते हैं, "किसी आंदोलन, सभा, सोसाइटी या कौंसिल, असेम्बली में नेतृत्व करने की क्षमता के लिए मैं स्त्री को उत्साहित नहीं करूंगा। इसके माने क्षमता का अपमान नहीं है। लेकिन क्षमता का लक्षण ही यह है कि वह भूखी नहीं होती। बाल-बच्चे और अड़ोस-पड़ोस में क्या वह क्षमता, क्षमता होकर काफी काम और संतोष नहीं पा सकती? अगर नहीं तो कैसी वह क्षमता है? पास-पड़ोस में करने को काम नहीं है, बल्कि जितनी क्षमता अधिक सक्षम हो उतनी ही वह आस-पास की स्थिति को सुधारने और बदलने में अधिक समर्थ होगी।"

तथापि, जैनेन्द्र की नायिकाएं स्त्री से परिचय की एक विलक्षण धरोहर हैं। आज स्त्री प्रधान उपन्यासों की नायिकाओं के बरक्स जैनेन्द्र की नायिकाओं को रख दिया जाए तो इनकी विशिष्टता की पहचान ज्यादा आसान हो जाएगी। ये नायिकाएं एक खास अर्थ में प्रासंगिक और आधुनिक हैं बल्कि यों कहें कि आधुनिकता के सारे प्रचलित प्रतिमानों से दूर रहते हुए भी आधुनिक और प्रासंगिक हैं। जैनेन्द्र की ये नायिकाएं अपने हर पाठक में (विशेषतः स्त्रियों में) न केवल अपने प्रति गहरी रागात्मक संसक्ति पैदा करती हैं, बल्कि स्त्री को एक मनुष्य के रूप में देखने की प्रेरणा भी प्रदान करती हैं। □

126वीं जयंती पर विशेष

प्रेमचंद के कथा साहित्य में साम्प्रदायिक सद्भाव

हिंदू और मुसलमान की समस्या प्रेमचंद के समय में भी थी / कट्टर हिंदूवादी, मुस्लिमवादी सोच समाज और राष्ट्र के लिए चिंता का विषय थी / हिंदू–मुसलमान एक साथ थे फिर भी रह–रहकर लगता था कि दोनों दो तरफ के मनुष्य हैं और यह सोच टकराहट पैदा करती थी / वे हर स्तर पर हिंदू–मुसलमान में सद्भावना पैदा करना चाहते थे / प्रेमचंद के लेखन में साम्प्रदायिक सद्भाव के मूल्यों और संवेदनाओं की पड़ताल कर रही हैं **स्मिता मिश्र**

प्रेमचंद एक बड़े लेखक थे। बड़े लेखक इसलिए तो थे ही कि उन्होंने कहानी और उपन्यास के लगभग सभी क्षेत्र में रचनात्मक उपलब्धि का कीर्तिमान स्थापित किया, इसलिए भी थे कि उन्होंने अपने समूचे लेखन में अपने समय की तमाम स्थितियों, समस्याओं, संबंधों, संघर्षों और चिंताओं को अभिव्यक्ति दी। उनके समय की राजनीति, समाज, अर्थ, धर्म, दर्शन, सम्प्रदाय आदि सभी उनके अनुभव और चेतना में समाकर उनके साहित्य में उतरे हैं इसलिए उनका साहित्य उनका पूरा समय है, पूरा समाज है, राष्ट्र साथ है। अपने समय की तमाम सच्चाइयों से वे लेखकीय तटस्थता के साथ तो रू–ब–रू हो रहे थे लेकिन उनका संवेदनशील और मूल्यवादी मनुष्य सदा अभिशप्त समाज के पक्ष में खड़ा दिखाई पड़ता रहा है। इसलिए बाहर से कुछ और दीखने वाली सच्चाइयों के भीतर की कुछ और सच्चाइयों को वे देख लेते थे। बाहर–बाहर जो भव्य, गरिमामय, उज्ज्वल, उदार, महान दिखाई पड़ रहा है उनके भीतर कितना छोटापन है, कितना कलुष है, कितनी क्रूरता है, उसे प्रेमचंद पहचान लेते थे और नीचे के समाज की बाहरी गंदगी और जहालत के नीचे बहती प्यार, करुणा, त्याग की धारा उन्हें दिखाई पड़ती थी। इसलिए उनके कथा साहित्य में एक ओर मानव–समाज की विसंगतियों और असुंदरताओं का तमस है तो दूसरी ओर मूल्यों और संवेदनाओं की आभा है। एक ओर कलात्मक निस्संगता है तो दूसरी ओर अपने समाज और राष्ट्र की समस्याओं के दबाव की तकलीफ तथा उनसे निजात पाने की चिंता है।

हिंदू और मुसलमान की समस्या प्रेमचंद के समय में भी थी। कट्टर हिंदूवादी, मुस्लिमवादी सोच समाज और राष्ट्र के लिए संकट थी। हिंदू–मुसलमान एक साथ थे फिर भी रह–रहकर लगता था कि वे दोनों दो तरफ के मनुष्य हैं और यह सोच टकराहट पैदा करती थी। प्रेमचंद जैसे मानवतावादी लेखक और इंसान के लिए यह अलगाव और टकराहट सह्य नहीं था। वे हर स्तर पर हिंदू–मुसलमान में सद्भावना पैदा करना चाहते थे। वे जानते थे कि दोनों एक ही ईश्वर की संतानें हैं। मानवीय स्तर पर उनमें कोई भी भेदभाव उचित नहीं है। यह भेदभाव मनुष्यता को झुलसाता है, आपसी भाईचारे को क्षत–विक्षत करता है, सामाजिक माहौल को बेचैन करता है और उस एकता की शक्ति को कमजोर करता है जो आजादी की लड़ाई के लिए जरूरी है। इसलिए प्रेमचंद मानते थे और अपने साहित्य के माध्यम से अपनी मान्यता को अभिव्यक्त करते थे कि व्यक्ति, समाज और देश के हित के लिए उन्हें एक रहना होगा। हमारा देश और समाज विभिन्न जातियों और धर्मों के लोगों से बना है। उनके बीच सद्भाव, एकता और अभेद रहेगा तभी समाज और राष्ट्र सशक्त होगा, स्वस्थ और प्रसन्न रहेगा।

प्रेमचंद ने अनेक स्तरों पर हिंदू–मुसलमान के आपसी सबंधों को देखा–परखा है और उनकी टकराहटों के बीच से सद्भाव का आलोक उजागर किया है। राजनीतिक संदर्भ में उनकी एक कहानी 'जुलूस' बड़े महत्व की है। जब मजहबी हिंदू और मुसलमान का संघर्ष चल रहा था तब दूसरी ओर राष्ट्रीय हिंदू–मुसलमान एक होकर देश के लिए कुर्बानी दे रहे थे। गांधी के नेतृत्व में स्वाधीनता का अहिंसक आंदोलन चल रहा था। उस दिन पूर्ण स्वराज्य का जुलूस निकल रहा था। कुछ युवक, कुछ बूढ़े, कुछ बालक झंडियां और झंडे लिए हुए वंदे मातरम् गाते हुए निकले। जुलूस का नेतृत्व बूढ़े नेता इब्राहिम कर रहे थे। दारोगा बीरबल सिंह ने जुलूस को आगे बढ़ने से रोक दिया। इब्राहिम ने उन्हें विश्वास दिलाया कि उनका जुलूस, अहिंसावादी है कहीं कोई अशांति नहीं फैलेगी। लेकिन बीरबल ने उनकी बात नहीं मानी। फिर तो इब्राहिम ने कहा, 'हम इसी जगह रुके रहेंगे।' लेकिन बीरबल ने उन्हें वहां भी रुके रहने को अनुमति नहीं दी और डी.एस.पी. को आते देख अपना कर्तव्य बोध दिखाने के लिए इब्राहिम पर हमला बोल दिया और लोगों की भी पिटाई होने लगी। इब्राहिम घायल हो गए और तीन दिन बाद उनका देहांत हो गया। उनके जनाजे में अद्भुत दृश्य था, हजारों स्त्री–पुरुष उनकी शव यात्रा में शरीक थे और उनकी जय बोल रहे थे। प्रेमचंद ने इस राजनीतिक जुलूस का नेतृत्व इब्राहिम के हाथ में देकर एक मुसलमान के प्रगाढ़ देश–प्रेम की तो पहचान करायी ही है, साथ ही यह भी दिखाना चाहा है कि देश की आजादी के संघर्ष में हिंदू–मुसलमान दो नहीं हैं। इब्राहिम के साथ इतने लोगों का होना, उनकी शव–यात्रा में हजारों लोगों का सम्मिलित होना यह प्रकट करता है कि जो भी देश और समाज का सपूत होगा, जनता उसे चाहेगी, उसके साथ होगी और उसके पीछे–पीछे चलेगी। सम्प्रदायवाद के लिए हिंदू–मुसलमान दो हो सकते हैं, राष्ट्रवाद के संदर्भ में वे केवल भारतवासी हैं, एक ही सुख–दुख के सहभागी हैं। गुलामी

का अभिशाप सबके के लिए है। स्वाधीनता का वरदान सबके लिए है और देश के संदर्भ में केवल एक ही संप्रदाय है और वह है हिंदुस्तानी संप्रदाय। प्रेमचंद ने राजनीतिक चेतना की एकता में सांस्कृतिक एकता को भी अन्वित कर दिया है। इब्राहिम ने मरते समय अपनी वसीयत की थी कि उनकी लाश को गंगा में नहला कर दफनाया जाए और उनके कफन पर स्वराज्य का झंडा खड़ा किया जाए। स्वराज का झंडा देश का झंडा है जो कि सबके लिए एक है और गंगा भले ही हिंदुओं की पूज्य नदी हो, मुसलमानों के साथ भी उसका संबंध कम आत्मीय नहीं है। नदी जो हिंदुओं को देती है वही मुसलमानों को भी। इसलिए इसका पानी सबके लिए पवित्र है। इब्राहिम की वसीयत हिंदुओं की भावना का सम्मान करती ही है और अपने देश की प्रकृति के साथ अपने गहरे जुड़ाव की भी प्रतीति कराती है।



आर्थिक संदर्भ में भी प्रेमचंद ने हिंदू-मुसलमान के सबंध को जांचा-परखा है और उनकी मानवीय आभा को रेखांकित किया है। कहना चाहा है कि यदि सब संप्रदाय एक दूसरे की धार्मिक और सांस्कृतिक भावना का सम्मान करते हैं तो उनके आर्थिक रिश्ते भी सुधार सकते हैं। 'मुक्ति धन' कहानी इस संदर्भ में देखी जा सकती है। रहमान आर्थिक विवशता के कारण गाय बेचता है। कई कसाई उसे अधिक दाम देकर लेने को तैयार हैं लेकिन रहमान गाय को बहुत प्यार करता है। वह बेच तो रहा है किंतु उसके प्रति उसके मन में गहरा दर्द है। वह चाहता है कि वह ऐसी जगह जाए जहां उसे प्यार और सुरक्षा मिले। इसलिए कम दाम पर दाऊ दयाल को बेच देता है और आश्वस्ति अनुभव करता है। मां को हज कराने के लिए उसे दाऊ दयाल से दो सौ रुपये उधार लेने पड़ते हैं। दाऊ दयाल इस बात के लिए ख्यात या कुख्यात हैं कि समय पर कर्ज वापस न पाने पर नालिश कर देते हैं। रहमान की मां मर जाती है और उसे दाऊ दयाल से फिर उधार लेना पड़ता है। उसे खुशी थी कि गन्ने की फसल खूब अच्छी हुई है, इस साल दाऊ दयाल जी के पैसे चुका देगा लेकिन गन्ने के खेत में आग लग गई और वह असहाय हो गया। दाऊ दयाल के सात सौ रुपये कैसे चुकायेगा। दाऊ दयाल का सिपाही उसे पकड़कर ले जाता है और वहां एक नाटकीय मोड़ उपस्थित होता है। दाऊ दयाल रहमान को ऋण मुक्त घोषित करते हैं। वे इस सीधे सच्चे इंसान से बहुत गहरे प्रभावित होते हैं। वे रहमान से कहते हैं- ''मैं तुम्हारा कर्जदार हूं तुम और कर्जदार नहीं हो। तुम्हारी गऊ अब तक मेरे पास है, उसने कम से कम आठ सौ रुपये का दूध दिया है, दो बछड़े नफे में अलग। तुमने उस वक्त पांच रुपये का नुकसान उठाकर गऊ मेरे हाथ में बेची थी। वह शराफत मुझे याद है। उस अहसान का बदला चुकाना मेरी ताकत के बाहर है। तुमने भले ही जानकर मेरे ऊपर एहसान न किया हो पर असल में वह मेरे धर्म पर एहसान था। मैंने भी तो तुम्हें धर्म के लिए रुपये दिये थे। बस हम तुम बराबर हो गए। तुम्हारे दोनों बछड़े मेरे यहां हैं, जी चाहे लेते जाओ, तुम्हारी खेती के काम आएंगे।

इस कहानी में प्रेमचंद ने अर्थ के ऊपर धार्मिक सद्भाव को तरजीह दी है। रहमान हिंदू की गाय माता को गहरी ममता देता है, एक तरह से वह भी उसे मां ही मानता है क्योंकि वह मां की तरह ही अपने दूध से उसका पालन-पोषण करती है। वह बहुत मजबूरी में उसे बेचता है। किंतु कम दाम देने वाले एक धार्मिक हिंदू के हाथ, अधिक दाम देने वाले कसाई के हाथ नहीं। इससे दाऊ दयाल का हिंदू मन उससे गहरा प्रभावित होता है और रहमान की मां को हज के लिए तथा क्रियाकर्म के लिए जो पैसे देता है उसे धार्मिक कृत्य के बदले एक धार्मिक कृत्य मान लेता है और लगता है कि हिसाब-किताब बराबर हो गया। रहमान अपनी अफाट गरीबी में एक सच्चे मुसलमान बल्कि सच्चे इंसान का फर्ज निभाता है और दाऊ दयाल अपनी समृद्धि में अपना मानव धर्म निभाता है। दोनों में जो लय बनती है यह देश और समाज के लिए अभीष्ट है।

हिंदू और मुसलमान से उनका हिंदुत्व और मुसलमानियत तो नहीं ली जा सकती किंतु उन्हें अपने-अपने धर्मों की बुनियादी विशेषता (मनुष्यता) का तो अहसास कराया ही जा सकता है। तमाम धर्मों के लोग बुनियादी मनुष्यता की एकता को भूलकर अपने धर्मों के बाह्याचारों और कर्मकांड में फंस गए हैं और अपने से भिन्न धर्म वाले को शत्रु मानने लगे हैं। हमारे देश में हिंदू और मुसलमान तो कई कारणों से तनाव अनुभव करते आ रहे हैं। प्रेमचंद ने बार-बार उनमें अंतर्व्याप्ति इंसानियत को उजागर करना चाहा है। 'अहिंसा परमोधर्म' में उन्होंने एक ओर कठमुल्ले हिंदुओं और मुसलमानों के धार्मिक आचरण पर चोट की है दूसरी ओर जामिद के माध्यम से एक ऐसे इंसान की छवि प्रस्तुत की है जो मुसलमान तो है किंतु मुसलमान होकर भी हिंदू है, या कहें कि वह न हिंदू है, न मुसलमान है, वह मनुष्य है और दोनों धर्मों के अत्याचारियों से टकराता है। कहानी गांव की सादगी और आर्थिक सहिष्णुता से शहर की कृत्रिमता एवं कट्टरता को तानती है और गांव से शहर गए जामिद को फिर गांव लौटने के लिए बाध्य करती है। हां, जामिद सच्चा मनुष्य है। वह गांव में है। वहां देवी-देवता की आराधना करता है। पुराण शास्त्र में उसकी रुचि है। वह सबका सेवक है। कुछ लोगों के धिक्कारने पर वह शहर चला जाता है। देहात में वह देखता था कि पास में नमाज पढ़ी जाती थी और पास में ही पीपल को पानी चढ़ाया जाता था। शहर में देखता है कि तमाम मंदिर हैं, तमाम मस्जिदें हैं। वह एक मंदिर के चबूतरे पर बैठ जाता है। किसी ने पूछा, 'तुम मुसलमान हो न।'

'ठाकुर जी तो सबके ठाकुर हैं क्या हिंदू क्या मुसलमान।'

हिंदू पंडितों द्वारा उसे फांस लिया जाता है। और उसे हिंदू बना दिया जाता है। एक दिन एक पंडित एक मुर्गीवाले मुसलमान पर अत्याचार करता है तो जामिद पंडित से भिड़ जाता है। हिंदुओं को लगता है कि वह उनके काम का नहीं है तो उसकी पिटाई कर देते हैं। हाजी साहब जामिद के पिटने का सांप्रदायिक लाभ उठाना चाहते हैं और एक हिंदू औरत का अपहरण कराकर उससे उसका निकाह कराना चाहते हैं। जामिद हाजी का विरोध करता है और उस हिंदू महिला को ससम्मान उसके घर छोड़ आता है और महिला के घर

वालों से निवेदन करता है कि इस शरारत का बदला किसी गरीब मुसलमान से मत लीजिएगा। फिर वह गांव लौट जाता है।

'पंच परमेश्वर' में प्रेमचंद ने गांव के एक पढ़े-लिखे मुसलमान की छवि उभारी है। जुम्मन शेख के पिता जुमराती शिक्षक थे और क्या हिंदू क्या मुसलमान, वे सबके गुरु थे। यानी ज्ञान सबके लिए एक होता है। वह हिंदू-मुसलमान में बंटा नहीं होता। गांव के सभी लोग उनका सम्मान करते थे। जुम्मन और अलगू चौधरी दोनों उनके शिष्य थे और दोनों में गाढ़ी मित्रता थी। उनमें न खान-पान का व्यवहार था न धर्म का, केवल विचार मिलते थे। मित्रता का मूलमंत्र भी यही है। जब न्याय और स्वार्थ की टकराहट होती है तब संबंध बिगड़ जाते हैं। जुम्मन अपनी खाला की मिल्कियत हथियाना चाह रहे थे तब खाला ने पंचायत में दावा ठोंक दिया। जुम्मन के मित्र अलगू ने पंच की हैसियत से जुम्मन के खिलाफ फैसला सुनाया यानी न्याय किया। इससे जुम्मन नाराज हो गए और बदला लेने की सोचने लगे। उन्हें अवसर मिल गया जब अलगू चौधरी और समझू साहु के झगड़े में उन्हें पंच बनाया गया। किंतु यह क्या, पंच बनते ही उनके *नीला* का परमेश्वर जाग गया और न्याय का पक्ष लेते हुए उन्होंने समझू साहु के विरुद्ध फैसला सुनाया। यह कहानी एक ओर उस गांव के सौहार्दपूर्ण वातावरण की कथा कहती है जिसमें हिंदू-मुसलमान का कोई भेद भाव नहीं था, दूसरी ओर यह कहना चाहती है कि चरम मूल्य के बिंदु पर आकर संप्रदायों, जातियों आदि का भेद-भाव गलकर बह जाता है और आदमी एक इंसान के रूप में शेष रह जाता है।

प्रेमचंद ने धर्म के नाम पर अधर्म का आचरण करने वाले हिंदू-मुसलमान दोनों को ही नंगा किया है, दोनों को ही फटकार लगायी है किंतु जैसा कि ऊपर देखा गया वे सदा इन दोनों संप्रदायों के बीच भाई-चारा स्थापित करने वाले, मानवीय एकता का अहसास कराने वाले प्रसंगों और क्रिया-कलापों को रेखांकित करते रहे। *कायाकल्प* उपन्यास में आगरा में सांप्रदायिक दंगा हो गया और इसमें यशोदानंदन मारे जाते हैं। उनकी धर्म पुत्री यशोदा को मुसलमान उठा ले जाते हैं, किंतु वह मुस्लिम नेता ख़्वाजा साहब की सहायता से लौटा दी जाती है। लेकिन चक्रधर के माता-पिता यशोदा के साथ छूत-छात का व्यवहार करते हैं। इस दंगे के संदर्भ में दंगे के जटिल चरित्र को समझा गया है। दंगे के पीछे सत्ता की दूषित राजनीति है एवं दोनों 'संप्रदायों' के उन्मादी लोगों की धर्म के नाम पर लड़ने की सनक है। हिंदुओं की पवित्रतावादी रूढ़ धारणा पर भी चोट है। चक्रधर के माध्यम से प्रगतिशील चेतना का उभार है जो भगायी गयी लड़की को अपना लेता है।

चक्रधर गाय की कुर्बानी देने के स्थान पर अपनी कुर्बानी देने का प्रस्ताव रखता है। ख़्वाजा अहल्या को अपनी बेटी मानते हैं। और जब वह उनके अत्याचारी बेटे का खून कर देती है तब उसे शाबाशी देते हैं। प्रेमचंद अनुभव करते हैं कि धर्म से ज्यादा द्वेष पैदा करने वाली वस्तु संसार में नहीं है। प्रेमचंद इसी द्वेष के हाहाकार के बीच दोनों पक्षों के प्यार, त्याग एवं करुणा के द्वारा एक मानवीय संगीत पैदा करते हैं।

'स्मृति का पुजारी' कहानी में हिंदू-मुस्लिम टकराहट का कोई संदर्भ नहीं आया है किंतु प्रेमचंद ने महाशय होरीलाल की स्मृतियों के माध्यम से हिंदू-मुस्लिम धर्म की कुरूपताओं पर चोट की है तथा एक मानवीय धर्म की आवश्यकता को रेखांकित किया है। "एक दिन बोले- मेरी कसौटी तो है मानवता। जिस धर्म में मानवता को प्रधानता दी गयी है, बस उसी धर्म का मैं दास हूं। कोई देवता हो, या नबी या पैगंबर अगर वह मानवता के विरुद्ध कुछ कहता है तो उसे दूर से सलाम है। इस्लाम का मैं इसलिए कायल था कि वह मनुष्य मात्र को एक समझता है। ऊंच-नीच का वहां स्थान नहीं है। लेकिन अब मालूम हुआ है कि यह समता और भाईपन व्यापक नहीं केवल इस लाभ के दायरे तक परिमित है...और अब देखता हूं कि यहां भी जानवरों की कुर्बानी शरीयत में दाखिल है और हर एक मुसलमान के लिए अपने सामर्थ्य के अनुसार भेड़, बकरी, गाय या ऊंट की कुर्बानी फर्ज बतायी गयी है तो मुझे उसके अपौरुषेय होने में संदेह होने लगता है। हिंदुओं में भी एक संप्रदाय पशु बलि को अपना धर्म समझता है। यहूदियों, ईसाइयों और अन्य मतों में भी कुर्बानी की बड़ी महिमा गायी गई है...मगर धर्म के नाम पर कुर्बानी मेरी समझ में नहीं आती।...तो जनाब मैं ऐसे रक्त शोषक धर्मों का भक्त नहीं। यहां तो मानवता के पुजारी हैं। चाहे इस्लाम में हो, या हिंदू धर्म में या बौद्ध में या ईसाइयत में। अन्यथा, मैं विधर्मी ही भला।"

प्रेमचंद की खुली मानवतावादी दृष्टि अपने समाज के सारे परिदृश्य को पूर्वाग्रहहीन भाव से देखती थी- वह परिदृश्य चाहे किसी भी जाति या संप्रदाय के जीवन का हो। वह दृष्टि उस परिदृश्य के भीतर व्याप्त मानवीय संदर्भों और संवेदनाओं को उजागर कर मानवीय एकता की पहचान कराना चाहती थी। ईदगाह भी मुस्लिम परिवेश की एक ऐसी ही कहानी है। ईद मुसलमानों का हंसी खुशी का महान त्योहार है। भाई-चारे का त्योहार है। प्रेमचंद ने इस त्योहार के माध्यम से मुस्लिम परिवेश के संकुल परिदृश्य को चित्रित कर उसके प्रति अपने गहरे लगाव को व्यक्त किया है। ऊंच-नीच, धनी-गरीब वहां भी हैं, बाल सुलभ क्रिया-कलाप वहां भी हैं तथा गहरा दर्द और संबंध की मूल्यवत्ता वहां भी है। हामिद न हिंदू है न मुसलमान, वह मनुष्य का बच्चा है। उसकी गरीबी ने उसे बचपन में ही अपने बुजुर्ग के प्रति बेहद संवेदनशील और स्थितियों के प्रति समझदार बना दिया है। उसकी गरीब दादी मेले में कुछ खाने-पीने के लिए जो थोड़े से पैसे देती है उससे वह दादी के लिए चिमटा खरीदता है। सोचता है, रोटी सेंकते समय दादी के हाथ जल जाते हैं। वह अपने साथियों से बहस करते समय चिमटे के समर्थन में जो तर्क देता है वह उसकी समझदारी का परिचायक है। पूरा परिवेश बहुत ही मानवीय है। मुस्लिम परिवेश के प्रति पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना तथा उसके प्रति संवेदनशील बनाना प्रेमचंद की मानवीय आकुलता का परिचायक है। □

लेखकों से

- रचना भेजने के लिए कोई शर्त नहीं है। सभी रचनाओं का हम स्वागत करते हैं।
- रचना एक तरफ टाइप की हुई या स्पष्ट लिखी होनी चाहिए। रचना के अंत में अपना नाम व पूरा पता अवश्य लिखें।
- यदि आप अस्वीकृत रचना वापस चाहते हैं तो कृपया अपना पता लिखा, डाक टिकट लगा लिफाफा लगाना न भूलें।

हमारा नया पता :

संपादक

आजकल

प्रकाशन विभाग

कमरा नं. 120, सूचना भवन

सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

तेरी याद आई तेरे जाने के बाद

***दादा साहेब फालके पुरस्कार और पदमभूषण से सम्मानित महान संगीतकार नौशाद का मानना था कि हमें संगीत की दुनिया में किसी से कुछ उधार लेने या किसी की नकल करने की जरूरत नहीं है। उन्होंने इस संदर्भ में एक शे'र कहा है– 'दरे–गैर पर भीख मांगो न फन की, जब अपने ही घर में खजाने बहुत हैं।' हिंदी सिनेमा के संगीत में नौशाद के बहुमूल्य योगदान की चर्चा कर रहे हैं* अखिलेश झा**

वह जमाना बोलती फिल्मों का नहीं था। बड़े शहरों में तो थिएटर होते थे और छोटे शहरों में शामियाने में ही फिल्में चल जाती थीं। इन फिल्मों के शो के दौरान लाइव संगीत बजता था। यह पर्श्व संगीत-सा था जो सामने बजता था। थिएटर के मालिक या फिल्म-निर्माता सितार, वायलिन, क्लैरिनेट, पियानो, हारमोनियम, तबला आदि बजानेवाले कलाकारों को इस काम के लिए लेते थे। पहले उन्हें फिल्म दिखाई जाती थी और फिर वे कलाकार फिल्म के सिचुएशन के हिसाब से संगीत बजाने के लिए नोटेशन तैयार कर लेते थे। जब फिल्म प्रदर्शित होती थी, तब वे कलाकार स्क्रीन के सामने बैठते थे और सीन के हिसाब से संगीत-रचना कर दर्शकों की अभिरुचि बढ़ाते थे। नौशाद के शहर लखनऊ में रॉयल थियेटर (अब मेहरा सिनेमा) था, वहां भी मूक फिल्में चलती थीं। नौशाद को भी थियेटर बहुत पसंद था, पर उनका ज्यादा आकर्षण होता था संगीत-रचना को देखने और सुनने में। नौशाद चार आने का टिकट लेकर सबसे आगे के स्टॉल में ऑर्केस्ट्रा के सामने बैठ जाते। तब फिल्म के शो भी शाम में ही हुआ करते थे, फिल्म देखकर लौटने में नौशाद को देर हो जाती थी। तब उम्र भी दस साल के आसपास ही रही होगी। जाहिर है घर में डांट पड़ती थी, पर नौशाद को हो रहा अनुभव सुरूरअंगेज था। बम्बई का रास्ता उन्हें यहीं से दिखने लगा था।

संगीत के प्रति उनका रुझान और भी छुटपन से था। घर में संगीत की कोई पृष्ठभूमि नहीं थी और न उसे उनके वालिद वाहिद अली पसंद करते थे। वे मुंशी थे और चाहते थे कि नौशाद भी पढ़-लिखकर कहीं नौकरी कर लें। पर, नौशाद के रगों में संगीत बहता था। बाराबंकी के मेले जाते, तो वहां देवशरीफ में हाजी वारिस अली शाह की दरगाह पर सूफी कव्वालों को घंटों ध्यानमग्न होकर सुनते रहते। वहीं उन्हें बरेली के एक बांसुरीवादक को सुनने का मौका मिला। जब तक वह बजाता, नौशाद उसके पास बैठे सुनते रहते। तब लखनऊ जैसे शहर में संगीत के जानकारों की कमी नहीं थी। वहीं उस्ताद गुरबत अली से शास्त्रीय संगीत सीखा, उस्ताद युसुफ खां से हारमोनियम सीखा, उस्ताद बब्बन



फिल्मी संगीत के जादूगर नौशाद

साहब से सितार सीखा और उस्ताद उमर अंसारी से उर्दू शायरी का अदब सीखा। वहीं मूक फिल्मों में संगीत के रंग भरने में माहिर बैंडमास्टर उस्ताद लद्दन खां से ऑर्केस्ट्रा के आरंभिक गुर भी सीखे।

यह दीवानगी इस हद तक बढ़ी कि लखनऊ में एक संगीत के साज की दूकान अल्लन साहिब एंड सन्स में नौकरी कर ली, जहां वे हारमोनियम ठीक करते। जिंदगी का पहला मेहनताना मिला हारमोनियम, जिसकी पटरी पर अपनी उंगलियों को छेड़कर नौशाद ने हिंदी सिनेमा को बेमिसाल गाने दिए। फिर, 1935 में न्यू स्टार थिएट्रिकल कंपनी में भी काम किया, पर वह कंपनी जल्द ही बंद हो गई। नाटक कंपनी के साथ वे राजस्थान, गुजरात के शहरों में गए। यह सब वे अपने वालिद की मर्जी के खिलाफ कर रहे थे और उम्र भी क्या थी 15-16 साल! जब मनमानेपन और दीवानेपन की हद हो गई, घर और संगीत में से एक चुनने को कहा गया, नौशाद के लिए रास्ता आसान हो गया।

1937 में अपनी किस्मत आजमाने नौशाद बंबई आ गए। अठारह वर्ष के नौशाद दिन भर स्टूडियो के चक्कर लगाते और रात में वहीं दादर में फुटपाथ पर पनाह ले लेते। तब बंबई में अंग्रेज और रूसी निर्माता भी हिंदी फिल्मों में पैसा लगाते थे। नौशाद को काम मिलने में देर नहीं हुई। हैरी डैरोइट्स नामक एक निर्माता ने उन्हें चालीस रुपये के तनख्वाह पर 'समुन्दर' नामक फिल्म के लिए रख लिया। उस फिल्म में मुश्ताक हुसैन नाम के संगीतकार थे, जिनके ऑर्केस्ट्रा में पियानोवादक के रूप में नौशाद को नौकरी मिली थी। यहीं गुलाम मुहम्मद भी मुश्ताक हुसैन के सहायक के रूप में काम करते थे। उन्हें तब साठ रुपये मिलते थे। बाद में ये नौशाद के सहायक के रूप में काम करने लगे। फिर, एक रूसी निर्माता हैनरी डारविज ने अपनी फिल्म 'सुनहरी मकड़ी' के लिए पचहतर रुपये मासिक पर रख लिया- यहां भी पियानो ही बजाना था। पर यह फिल्म भी पूरी न हो सकी।

मुश्ताक हुसैन कलकता के प्रसिद्ध न्यू थियेटर के संगीकार थे, इसलिए बम्बई में उनकी बहुत इज्जत हुई। नौशाद की प्रतिभा देखकर उन्होंने सहायक के तौर पर उन्हें रख लिया। फिल्म सिटी से मुश्ताक हुसैन के सहायक के रूप में उनकी रिलीज हुई फिल्में थीं- 'हिंदुस्तान' (1938), 'बागबां' (1938) और 'पति-पत्नी' (1939)। पर, इस फिल्म के साथ ही तारदेव का फिल्म सिटी स्टूडियो बंद हो गया। तब गीतकार डी.एन. मधोक के कहने पर उन्होंने रंजीत स्टूडियो के बैनर तले बन रही पंजाबी फिल्म 'मिर्जा साहिबां' (1939) में सहायक संगीत निर्देशक के तौर पर काम किया। वह फिल्म सुपर हिट हुई और नौशाद को रंजीत स्टूडियो में स्थायी नौकरी मिल गई। यहीं उन्होंने खेमचंद प्रकाश के साथ काम किया। उनके सहायक के तौर पर नौशाद की फिल्में थीं- 'मेरी आंखें' (1939) और 'गाजी सलाउद्दीन' (1939)। यहीं उन्हें झंडे खां और बन्ने खां से भी संगीत-संयोजन के गुर सीखने को मिले।

रंजीत स्टूडियो में उस जमाने में फिल्म जगत के सबसे प्रतिष्ठित नाम होते थे। वहीं उन्हें 1939 में सबसे पहले डी.एन. मधोक के निर्देश पर कंचन फिल्म के लिए स्वतंत्र रूप से संगीत निर्देशन का प्रस्ताव मिला। लीला चिटनिस की आवाज में उन्होंने 'बता दो मोहे कौन गली गए शाम' बोल से एक गीत रिकॉर्ड भी किया। पर, रंजीत स्टूडियो के कलाकारों ने बीस साल के नौशाद से निर्देश लेना अपनी तौहीन समझी और नौशाद को उस एक गाने के बाद ही अपनी पहली फिल्म 'कंचन' छोड़नी पड़ी। यह फिल्म बाद में 1941 में रिलीज हुई और उसी एक गाने के साथ। नौशाद ने रंजीत स्टूडियो की नौकरी छोड़ दी।

नौशाद की बतौर संगीत निर्देशक रिलीज हुई पहली फिल्म थी 'प्रेमनगर' (1940)। इस फिल्म के बाद डी.एन. मधोक ने, प्रकाश स्टूडियो के विजय भट्ट को युवा संगीत निर्देशक नौशाद के बारे में बताया। उनके कहने पर नौशाद को 'माला' (1914) फिल्म मिली, जिसके गीत, कथा और संवाद मधोक ने ही लिखे थे। विजय भट्ट के लिए नौशाद ने 'दर्शन' (1941) और 'स्टेशन मास्टर' (1942) भी बनाई। इस प्रोडक्शन हाउस के लिए एक और फिल्म नौशाद ने बनाई थी 'बैजू-बावरा', जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। यहां यह बताते चलें कि विजय भट्ट की ही वह फिल्म थी 'रामराज्य' (1943), जिस एकमात्र फिल्म को गांधीजी ने देखा था। उन्होंने ही गांधी पर एक फिल्म निर्देशित की थी 'बापू ने कहा था' (1959), जिसमें मोरारजी देसाई ने स्क्रीन प्रेजेंस दिया था। फिल्मों की सफलता के साथ नौशाद का मेहनताना भी बढ़ता गया। 'स्टेशन मास्टर' नौशाद की पहली सिल्वर जुबली फिल्म थी। इसके लिए उन्हें डेढ़ हजार रुपये मिले थे। इसमें रामानंद कथावाचक जैसे गायकों ने गीत गाया *'मैं कली बाग की, तू भंवरा काला'* और *'मत पूछो बहार की बतियां'* जैसे इस फिल्म के गीत उस जमाने में खूब लोकप्रिय हुए।

इसी बीच नौशाद ने अब्दुल राशिद कारदार से अपने को जोड़ा। नौशाद ने कारदार की एक दर्जन से भी अधिक फिल्मों में संगीत दिया। 'नई दुनिया' (1942) से शुरू हुआ यह सफर शारदा (1942), 'नमस्ते' (1943), 'कानून' (1943), 'संजोग' (1943), 'गीत' (1944), 'पहले आप' (1944), 'जीवन' (1944), 'संन्यासी' (1945), 'शाहजहां' (1946), 'दर्द' (1947), 'दिल्लगी' (1949), 'दुलारी' (1949), 'दास्तान' (1950), 'जादू' (1951), 'दीवाना' (1952) जैसी फिल्मों से होते हुए 'दिल दिया दर्द लिया' (1966) पर आकर खत्म हुआ।

1944 में आई नौशाद की पहली डायमंड जुबली फिल्म 'रतन'। यह फिल्म जेमिनि दीवान की थी। इस फिल्म के गाने सुपर हिट हुए। जोहराबाई की आवाज में 'अंखियां मिलाके', 'सावन के बादलो', 'आई दीवाली' और अमीरबाई की आवाज में *'मिलके बिछड़ गई'* जैसे गीत खूब सराहे गए। इस फिल्म से नौशाद संगीत निर्देशन में सबसे अव्वल माने जाने लगे। इस फिल्म के लिए उन्हें आठ हजार रुपये मिले थे। 40 रुपये मासिक से अपना सफर शुरू करनेवाले नौशाद ने इस फिल्म के बाद अब एक फिल्म के लिए पच्चीस हजार रुपये लेना शुरू कर दिया। 'मुगलेआजम' के बाद यह फीस पच्चीस हजार रुपये प्रति गाना हो गई। यही नहीं फिल्मों की सफलता में उनके संगीत का महत्व इतना बढ़ गया कि फिल्म के अभिनेताओं से पहले कास्ट में उनका नाम आने लगा। इसी साल नौशाद की शादी भी हुई। घरवालों ने लड़की वालों को बताया कि नौशाद की बंबई में दर्जी की दुकान है। तब संगीत से घर अच्छा चल सकता है, यह मानने वाले लोग कम थे। वैसे आज भी अधिकांश संगीत से जुड़े कलाकारों की माली हालत खास अच्छी नहीं कही जा सकती। खैर, नौशाद जब दूल्हा बनकर बैठे, तब बैंडवालों ने रतन फिल्म के गानों की धुन ही बजाई, इस बात से बिल्कुल अनजान होकर कि ये गाने उस दूल्हे ने ही बनाए थे।

1946 में नौशाद की दो खास फिल्में आईं- 'अनमोल घड़ी' और 'शाहजहां'। 'अनमोल घड़ी' में *'खिलौना टूटा बालक, तेरा खिलौना टूटा'* गीत रफी ने सोलो गाया, यह संभवत: मोहम्मद रफी का पहला सोलो गीत था। रफी साहेब को बंबई में पहला ब्रेक भी नौशाद ने ही दिया था. गीत था- *'हिंदुस्तान के हम हैं, हिंदुस्तान है हमारा'*। अपनी फिल्म 'पहले आप' (1944) में गाना था इस गीत ने रफी को पहली श्रेणी में ला खड़ा किया और रफी तलत महमूद की जगह नौशाद के पसंदीदा गायक बन गए। इसी फिल्म से नौशाद की जोड़ी निर्माता महबूब खां के साथ भी बनी। उनके लिए नौशाद ने 'ऐलान' (1947), 'अनोखी अदा' (1948), 'अंदाज' (1949), 'आन' (1952),

'अमर' (1954) और 'मइर इंडिया' (1957) जैसी सुपर हिट फिल्मों में संगीत दिया। इसी दौर में नौशाद ने सुरया को महज 12-13 साल की उम्र में बतौर गायिका ब्रेक दिया। फिल्म थी 'शारदा'। नौशाद की फिल्म 'दर्द' (1947) के गीत '*अफसाना लिख रही हूं*' से उमा देवी ने भी हिंदी फिल्मों में बतौर गायिका अपने को स्थापित किया। कहते हैं नौशाद के गानों की दीवानगी और उनके लिए गाने की जिद की वजह से ही वे बंबई आई थीं। आगे एक हास्य अभिनेत्री के रूप में भी टुनटुन नाम से ये प्रसिद्ध हुईं। यह टुनटुन नाम भी उन्हें नौशाद साहेब ने ही दिया था।

दूसरी तरफ, उस जमाने के सबके पसंदीदा गायक, अभिनेता के. एल. सहगल ने आखिरी बार फिल्म 'शाहजहां' के लिए गाया। इस फिल्म में उनके द्वारा गाया गया '*जब दिल ही टूट गया*' हिंदी सिनेमा के अमर गीतों में से एक है। फिल्म रिलीज होने के कुछ ही दिनों बाद सहगल साहेब का देहांत हो गया और तब उनके गीत का दर्द श्रोताओं के लिए और भी बढ़ गया। इसी फिल्म से हिंदी फिल्मों का महान, गीतकार असरार हुसैन खां उर्फ मजरूह सुल्तानपुरी से भी पहली बार परिचय हुआ। इसी फिल्म में रफी साहेब ने सहगल साहेब के साथ पहली और आखिरी बार 'मेरे सपनों की रानी' डुएट गाया। इस फिल्म से रिकॉर्डिंग में भी नौशाद ने एक नई तकनीक का इस्तेमाल शुरू किया। तब और बहुत बाद तक भी एक ही ट्रैक पर गायक और संगीतकारों के वाद्यों की आवाज रेकॉर्ड की जाती थी। नौशाद ने पहली बार गायक सहगल को अलग ट्रेक पर और संगीत को अलग ट्रैक पर रिकॉर्ड किया और फिर उन्हें मिक्स किया।

उस जमाने में फिल्म संगीत भी एक साधना की तरह था और तकनीकी दृष्टि से इसमें चुनौतियां भी बहुत थीं। तब स्टूडियो में टिन की छतें होती थीं और साउण्डप्रूफिंग की कोई तकनीक नहीं थी। ऐसे में आवाज तो गूंजती ही। इसलिए, तब संगीतकार अपने साजिंदों को लेकर आधी रात बीत जाने पर किसी पार्क में चले जाते थे और वहीं संगीत रिकॉर्ड करते थे। चालीस के दशक की अधिकांश फिल्मों के संगीत इसी तरह रिकॉर्ड होते रहे। जब प्लेबैक भी नहीं था, तब तो फिल्म की शूटिंग के साथ ही अभिनेताओं द्वारा लाइव गीत गाया जाता था और संगीत बजाया जाता था। कई बार साजिंदों को पेड़ पर बैठकर साज बजाना पड़ता था। पहली बार 1935 में आर.सी. बोराल की फिल्म धूप-छांव में प्ले-बैक शुरू हुआ, जिसका कोरस '*मैं खुश होना चाहूं, हो न पाऊं*', बहुत लोकप्रिय हुआ था। नौशाद ने बाद में स्टूडियो में गूंज हटाने के लिए कंबल से दीवारों एवं छत को ढकने की प्रथा शुरू की और फर्श पर नारियल के रेशों से बनी दरी को बिछाना शुरू किया। नौशाद माहिर संगीतकार तो थे ही, वे रिकॉर्डिंग करने और उसकी तकनीक में भी अच्छी दखल रखते थे। तब जब मल्टी ट्रैक रिकॉर्डिंग नहीं के बराबर होती थी और न्योंडो-जैसे रिकॉर्डिंग सॉफ्टवेयर भी नहीं थे, तब नौशाद ने आवाज में ओवरलैपिंग तकनीक का प्रयोग किया। 1954 में 'अमर' में और 1955 में 'उड़नखटोला' में नौशाद ने आवाज को पहले घटते हुए स्केल में 90, 70, 50 के क्रम में अलग-अलग रिकॉर्ड किया और फिर उन्हें मिक्स करने पर जो प्रभाव आया प्ले-बैक में, वह तब श्रोताओं के लिए एक अलग अनुभव था। रतन फिल्म में नौशाद ने पहली बार इको एफेक्ट का प्रयोग किया। इसके लिए उन्होंने चमकदार टाइल्स की दीवारोंवाली बाथरूम के अंदर माइक्रोफोन रखा और उसके सामने रिकॉर्ड किए हुए गाने को बजाकर उसे दुबारा रिकॉर्ड किया। इसी तरह 'मुगले-आजम' में '*प्यार किया तो डरना क्या*' गाने के एक हिस्से में इको एफेक्ट डालने के लिए लता को बाथरूम में उसी तकनीक पर गाना पड़ा था। नौशाद क्रियेटिव थे, हमेशा सोचते रहते थे संगीत को कर्णप्रिय बनाकर प्रस्तुत करने के बारे में। नौशाद ने ही पहली बार हिंदी फिल्मों में पाश्चात्य शैली की तरह धुनों के
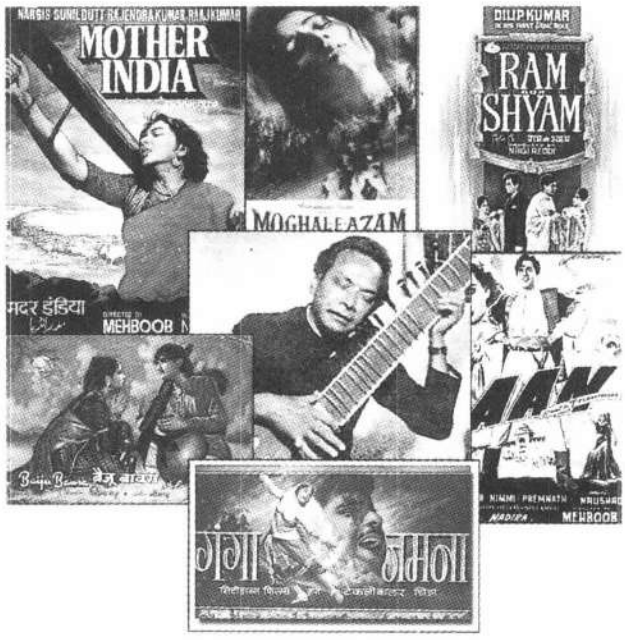


महबूब खां द्वारा निर्देशित फिल्म 'अंदाज' में राजकपूर व नर्गिस

नोटेशन बनाने की पद्धति भी शुरू की।

तब संगीतकारों के लिए एक और चुनौती थी गानों की लंबाई को लेकर। पुरानी फिल्मों में हम प्राय: सभी गीतों की लंबाई तीन मिनट से कम या उसके आस-पास ही पाते हैं। दरअसल, तबके 78 आर.पी.एम. रिकॉर्ड में एक तरफ 3 मिनट 15 सेकंड की लंबाई तक ही रेकॉर्ड हो सकता था। इसलिए, संगीतकारों के लिए उस सीमा को ध्यान में रखकर ही गाना बनाने की बाध्यता होती थी। 'शाहजहां' फिल्म के '*जब दिल ही टूट गया*'- जैसे गाने की लंबाई बिल्कुल 3 मिनट 14 सेकंड ही है।

नौशाद भारतीय शास्त्रीय संगीत के मर्मज्ञ थे। उनका मानना था कि हमें संगीत की दुनिया में किसी से कुछ उधार लेने या किसी की नकल करने की जरूरत नहीं है। उन्होंने इसी संदर्भ में एक बार एक शे'र कहा था, *दरे-गैर पर भीख मांगो न फन की, जब अपने ही घर में खजाने बहुत हैं*। और, वे राग-आधारित गीतों में राग की चासनी भर नहीं चढ़ाते थे, वैसे गीत राग के पूरे और सही चलन पर आधारित होते थे। वे पूरे गीत में एक ही राग रखते थे। लयकारी और स्वर-संवाद की शास्त्रीय शैली का फिल्मी गीतों में जैसा प्रयोग नौशाद ने किया, वह कोई और न कर पाया। आप उनके राग आधारित गीतों को उन रागों की नई बंदिशें कह सकते हैं। हिंदी फिल्मों में राग भैरवी में सबसे ज्यादा गीत बने हैं और नौशाद भी अपवाद नहीं हैं। सहगल साहेब की आवाज में गाया हुआ '*जब दिल ही टूट गया*' राग भैरवी में ही था। गंगा-जमुना में '*दो हंसों का जोड़ा*' गीत भी उसी राग पर आधारित था। राग देशी में अमीर खां साहेब और पंडित डी.वी. पलुस्कर का गाया हुआ 'बैजू बावरा' का गीत '*आज गावत मन मेरो झूम के*', अमीर खां साहेब की आवाज में इसी फिल्म का पूरिया धनाश्री में '*तोरी जयजय करतार*', इसी फिल्म में मो. रफी की आवाज में राग मालकौस में '*मन तड़पत हरि दर्शन को आज*', राग सोहनी में बड़े गुलाम अली खां साहेब का 'मुगले-आजम' का '*प्रेम जोगन बन के*' और उन्हीं के द्वारा इस फिल्म में गाया हुआ रागेश्वरी में '*शुभ दिन आयो*', इसी फिल्म में राग गारा में '*मोहे पनघट पे नंदलाल*', राग केदार में



नौशाद की कुछ यादगार फिल्में

'*बेकस पे करम कीजिए*', राग हमीर में मोहम्मद रफी की आवाज में 'कोहिनूर' का गीत '*मधुबन में राधिका नाची रे*', राग ललित में 'लीडर' फिल्म में रफी द्वारा गाया हुआ 'एक शहंशाह ने बनाके हसीं ताजमहल', राग पीलू में शबाब फिल्म की हेमंतदा की आवाज में लौरी 'चंदन का पालना' आदि गीत में रागों का चलन विशुद्ध रूप में हुआ है।

पंडित रविशंकर को यदि भारतीय शास्त्रीय संगीत को शास्त्रीय रूप में पूरे विश्व में प्रचारित करने का श्रेय है, तो नौशाद साहब को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने भारत-सहित सारी दुनिया में उसे सुगम रूप में पहुंचाया। हिंदी फिल्मों में शास्त्रीय रागों पर फिल्म की धुनें बनाने का चलन नौशाद के प्रयोगों के बाद और भी बढ़ गया ।

उनके गीतों में सुर तो त्रुटिहीन थे ही, उच्चरण की शुद्धता पर भी वे कोई समझौता नहीं करते थे। शकील बदायूनी जैसे शायर के गीतों के एक-एक शब्द के सही उच्चारण के लिए वे गायक-गायिकाओं को कभी-कभी तो महीने भर प्रैक्टिस करवाते थे। महबूब की फिल्म अंदाज की एक गजल गाने के लिए लता मंगेशकर से भी बीस दिनों तक नौशाद साहब ने रियाज करवाया था। वे कहते थे कि मैं पहले गीत को एक पूरी तस्वीर में तब्दील कर देता हूं और कम्पोज करता हूं। आज एक जमाना है कि पहले धुन बना ली या चुरा ली जाती है और फिर उसमें शब्द ठूस दिए जाते हैं। जब कोई उनके धुनों की तारीफ करता, तब वे कहते कि उनमें उनका कुछ भी नहीं है, मैं तो बस पारंपरिक चीजों को नए रूप में परोस रहा हूं। वे ऊपर देखकर कहते- सब मां सरस्वती की कृपा है। पर, इसका यह मतलब कतई नहीं था कि वे मांग के हिसाब से पाश्चात्य साज और धुन इस्तेमाल नहीं कर सकते थे। उन्होंने जादू (1951) में पूरी तरह पाश्चात्य धुन और संगीत पर आधारित गीत बनाए। उन्होंने बांसुरी और क्लैरिनेट, सितार और मैंडोलिन साथ-साथ बजवाए। एकॉर्डियन को हिंदी फिल्म संगीत में लाने का श्रेय भी उन्हें ही जाता है।

1947 में रिलीज हुई फिल्म दर्द और नाटक के लिए शकील बदायूनी ने गीत लिखे। तब से 1968 में आदमी तक शकील और नौशाद ने 33 फिल्मों में काम किया- नौशाद की आधी फिल्मों में। 1970 में शकील बदायूनी का देहांत ही हो गया। शकील ने भी अपने कैरियर की आधी से अधिक फिल्मों के गीत नौशाद के संगीत के लिए ही लिखे। यह जोड़ी संगीत के क्षेत्र में अनुपम है। तभी तो जब यह जोड़ी टूटी, तब नौशाद ने भरे दिल से श्रद्धांजलि देते हुए कहा- ओ जानेवाले दिल में तेरी याद रह गई, अरे नगमा जुदा हो गए, फरियाद रह गई।

अब तक नौशाद का लोहा हिंदुस्तान में सबने मान लिया था। 1952 में फिल्म आई 'आन'। इस फिल्म के ऑर्केस्ट्रा में नौशाद ने एक साथ सौ साजिंदों से सिम्फॉनी बजवाई। इतने बड़े कैनवास पर आजतक हिंदी सिनेमा में किसी संगीतकार ने काम नहीं किया था। इस फिल्म की धुनों का जो नोटेशन नौशाद ने तैयार किया था, उसे देख-सुनकर पाश्चात्य संगीत के मर्मज्ञों ने भी उनका लोहा मान लिया। फिल्म का संगीत जब मिक्सिंग के लिए लंदन गया, तब वहां भी उसकी खूब तारीफ हुई। बी.बी.सी. ने अपने रेडियो पर आन की सिम्फॉनी बजाई। नौशाद ने अपने हार्मोनी में महारत तो दुनिया को दिखाई ही थी, अब सिम्फॉनी से उनका संगीत-सम्राट रूप और भी दमकने लगा। आन के नोटेशन पुस्तकाकार लंदन से ही प्रकाशित हुए। लंदन फिलहार्मोनिक ऑर्केस्ट्रा ने नौशाद को अपने मंच से ऑर्केस्ट्रा कंडक्ट करने के लिए भी आमंत्रित किया। यह सम्मान प्राप्त करनेवाले वे पहले भारतीय थे। इस फिल्म के प्रीमियर से ही बम्बई के लिबर्टी सिनेमा का उद्घाटन हुआ था। नौशाद में विविधता भी उतनी ही थी। 1955 में उनकी फिल्म आई 'उड़न खटोला'। उस फिल्म में उन्होंने एक गीत में ऑर्केस्ट्रा का बिल्कुल भी प्रयोग ही नहीं किया, बस हमिंग से काम चला लिया।

हिंदी सिनेमा के संगीत के लिए मील का पत्थर साबित हुआ प्रकाश स्टूडियो के बैनर तले बनी 'बैजू बावरा' (1952)। शास्त्रीय संगीत इतने चिताकर्षक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, इसकी किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। दरअसल, इस फिल्म की संकल्पना से लेकर, अभिनेताओं के चयन तक में नौशाद की सबसे अहम भूमिका थी। प्रकाश स्टूडियो उस समय लगभग बंद होने के कगार पर था। नौशाद ने एक अंतिम प्रयास करने का आग्रह किया भट्ट साहेब से। उन्होंने 'बैजू बावरा' की कहानी बताई। भट्ट साहेब ने तब के स्टार कलाकार दिलीप कुमार और नरगिस को लेने की बात की। पर नौशाद कहानी और संगीत को तवज्जो देना चाहते थे। उनके कहने पर भारतभूषण और मीनाकुमारी को फिल्म में लिया गया। बतौर अभिनेता मीनाकुमारी की मुख्यधारा की यह पहली फिल्म थी। इसमें नौशाद ने उस जमाने के शास्त्रीय संगीत के दो दिग्गजों- पंडित डी.वी. पलुस्कर और उस्ताद अमीर खां से जुगलबंदी '*आज गावत मन मेरो झूम के*' गवाने की हिम्मत दिखाई। अमीर खां साहेब ने '*तोरी जय-जय करतार*' भी उसी फिल्म के लिए गाया। अन्य गीतों में भी रागबद्धता ने बला का रस भर दिया था- जितनी बार भी 'बैजू-बावरा' के गीतों को कोई सुनता, मन न भरता। लता मंगेशकर ने '*मोहे भूल गए सांवरिया*' और '*बचपन की मोहब्बत*' को गाकर खूब प्रसिद्धि पाई। मोहम्मद रफी ने '*मन तड़पत हरि दर्शन को आज*' और '*ओ दुनिया के रखवाले*' गाकर वह मुकाम हासिल कर लिया, जहां दूसरे के लिए पहुंचना मुश्किल था। '*मन तड़पत हरि दर्शन को आज*' भजन हरेक हिंदू घर में हर उत्सव एवं त्योहार में बजने लगा। हिंदुस्तान की साझी विरासत का यह बेजोड़ नमूना है। इस फिल्म के गीतकार शकील बदायूनी, संगीतकार नौशाद और गायक मोहम्मद रफी- सभी मुसलमान। नौशाद साहब को हिंदू मान्यताओं की समझ

थी और जब वे ऐसे किसी विषय पर काम करते, तो एक भक्त की तरह नजर आते थे। यह नौशाद की दूसरी डायमंड जुबली फिल्म थी।

'बैजू बावरा' को उसी साल से शुरू हुए फिल्मफेयर अवार्ड में सर्वोत्तम संगीत का पुरस्कार मिला (1953)। मीनाकुमारी को भी इसी फिल्म के लिए सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री का पुरस्कार मिला। पहले साल फिल्मफेयर अवार्ड पांच ही श्रेणी में दिए गए थे- सर्वश्रेष्ठ फिल्म, सर्वश्रेष्ठ निर्देशक, सर्वश्रेष्ठ अभिनेता, सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री और सर्वश्रेष्ठ संगीत निर्देशक। उस साल यदि प्लेबैक गायकी के लिए पुरस्कार दिया गया होता, तो निश्चित रूप से पुरस्कार 'बैजू बावरा' के गायकों को ही मिलता। प्लेबैक गायकी के लिए पहली बार पुरस्कार 1959 में दिया गया, जो मुकेश को मिला 'अनाड़ी' के गाने '*सब कुछ सीखा हमने न सीखी होशियारी*' गाने के लिए। रेडियो सिलोन से बिनाका गीतमाला भी उसी साल शुरू हुआ और पहले साल शिखर पर 'बैजू बावरा' के गीत रहे।

बंबई में यह फिल्म दादर के बॉडबे थियेटर में प्रीमियर हुई। दर्शकों की प्रतिक्रिया ने निर्माताओं को भावविह्वल कर दिया। नौशाद के संगीत का जादू सबके सिर चढ़कर बोल रहा था। प्रकाश स्टूडियो बंद होने से बच गया था। निर्माता विजय भट्टसाहब ने नौशाद से प्रीमियर के बाद पूछा- कैसा लग रहा है? नौशाद ने सड़क के पार फुटपाथ की ओर नम आंखों के धुंधलके से देखते हुए कहा- उस फुटपाथ से यहां आने में सोलह साल लग गए। यह वही जगह थी, जहां नौशाद ने फुटपाथ पर कई रातें बिताई थीं।

1953 में एक फिल्म आई 'नग़मा' और 1955 में आई 'बारादरी'। 'नग़मा' में तलत महमूद की आवाज में '*मिलते ही नजर उनसे*', '*तीर चलाओ तीर*' और शमशाद बेगम की आवाज में 'आ जा मेरे राजा', 'बड़ी मुश्किल से दिल' और 'बारादरी' में तलत महमूद की आवाज में 'तस्वीर बनाता हूं, तस्वीर नहीं बनती' और शमशाद बेगम की आवाज में '*भुला नहीं देना जी, भुला नहीं देना*' जैसे गीत खूब लोकप्रिय हुए। ये गीत नाशाद की नाशादमानी बन गए। जी, ये गीत एक और संगीतकार नाशाद के थे, नौशाद के नहीं। ये जनाब दिल्ली के शौकत अली थे, बड़े काबिल संगीतकार थे। पर, इन जनाब को जनीम बनना पड़ा। फिल्मी दुनिया में नौशाद की लोकप्रियता का लाभ उठाने के लिए निर्माताओं ने उन्हें नाशाद नाम से संगीत बनाने के लिए बाध्य किया। इन्होंने शौकत देहलवी, शौकत हुसैन, शौकत हुसैन हैदरी आदि नामों से भी कई फिल्मों में संगीत दिया। 1962 में इन्होंने आखिरी बार हिंदुस्तान में काम किया और फिर वे पाकिस्तान चले गए। वहां मेहदी हसन साहेब के साथ इनकी जोड़ी खूब जमी। उनके साथ बनाए गीत '*लागी रे, लागी लगन*' और '*मैं दीवाना मुझे न छेड़ो*' जैसे गीत हिंदुस्तान में भी कम लोकप्रिय नहीं हैं।

खैर, 1957 में आई हिंदुस्तान की पहली ब्लॉकबस्टर 'मदर इंडिया'। यह ऑस्कर के लिए- नामांकित भारत की पहली फिल्म थी। फिल्म के बारे में लोग बहुत जानते हैं और किवदंतियां भी खूब हैं। अक्सर किसी फिल्म के एक-दो गाने याद रहते हैं, पर इस फिल्म के बारह के बारह गाने हिट हुए, फिल्म की कथा के साथ उसके गीत भी दर्शकों के दिलो-दिमाग पर छा गए। इस फिल्म के '*घूंघट नहीं खोलूंगी*', '*दुनिया में हम आए हैं तो*', '*दुख भरे दिन बीते रे*', '*ना मैं भगवान हूं*', '*नगरी-नगरी द्वारे-द्वारे*' आदि गीत आजतक लोगों की जुबान पर बैठे हुए हैं।

1960 में आई हिंदी सिनेमा की सार्वकालिक सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक फिल्म 'मुग़ले-आज़म'। अज़ीमुश्शान मूशीकार नौशाद का सबसे नायाब लाल! यह हिंदी सिनेमा का उदात्त महाकाव्य था। उस ब्लैक एंड व्हाइट फिल्म को

शायर नौशाद

एक

मिल भी सकता हूं मैं कहीं न कहीं
तुम अगर ढूंढते चले आओ।
दर-बदर करके ढूंढते हो मुझे
दर-बदर ढूंढते चले आओ।

बेजबानी है अब जबां मेरी
मेरी आवाज भी कहां मेरी।
जिस तरफ से न आए कोई सदा
तुम उधर ढूंढते चले आओ।

वो घड़ी प्यार की, मिलन की बहार
धड़कनों की बढ़ी हुई रफ्तार
तुमने देखा था जिससे पहली बार
वो नजर ढूंढते चले आओ।

दिन भी अब वो नहीं वो रात नहीं
मेरा साया भी मेरे साथ नहीं
तुमको मेरा निशां मिले न मिले
तुम मगर ढूंढते चले आओ।

['दिल की बातें' (1981) एलबम से]

दो

आबादियों में दश्त का मंजर भी आएगा,
गुजरोगे शहर से तो मेरा घर भी आएगा।
अच्छी नहीं नजाकते-एहसास इस कदर
शीशा अगर बनोगे तो पत्थर भी आएगा।
दैरो-हरम में खाक उड़ाते चले चलो,
तुम जिसकी जुस्तजू में हो, वो दर भी आएगा।
बैठा हूं कब से कूचे-ए-कातिल सजाए
कातिल के हाथ में कभी खंजर भी आएगा।
जिस दिन का मुद्दतों से है नौशाद इंतिजार,
क्या जाने दिन हमें वो मयस्सार भी आएगा

['आठवां सुर' (1998) एलबम से]

रंगीन बनाने के लिए जैसे एक-एक पिक्सेल में आज कंप्यूटर से रंग भरा गया है, वैसे ही नौशाद ने इसके एक-एक बोल में अपनी सारी काबिलियत लगाकर सुर भरे थे। इसके विशाल कैनवास पर आंखों के रंग तो बाद में भरे गए, सुरों के रंग तो नौशाद ने कब के भर दिए थे। यह फिल्म भी डायमंड जुबली रही। किसी फिल्म में पहली बार बड़े गुलाम अली खां साहब को लोगों ने गाते हुए सुना। यह नौशाद जैसे गुणी और गुणज्ञ के वश की ही बात थी कि वे शास्त्रीय संगीत की महान हस्तियों को फिल्म में गाने के लिए तैयार कर लेते। कहते हैं उन्होंने टालने के लिए निर्माता के आसिफ से, जो नौशाद साहब के साथ उनके यहां गए थे, एक गाने के लिए पच्चीस हजार रुपये मांगे। बिना हिचकिचाए आसिफ साहब ने हामी भर दी थी। पहला गाना '*प्रेम जोगन बन के*' रिकॉर्ड करने के बाद आसिफ साहब ने एक और सिचुएशन के लिए एक गाना बड़े गुलाम अली खां साहेब से गवाने का निर्णय किया और फिर पच्चीस हजार रुपये '*शुभ दिन आयो*' के लिए दिए। तब लता मंगेशकर को एक गाने के लिए तीन हजार रुपये मिलते थे। इस फिल्म में उस्ताद का कमाल तो देखने को मिला ही, शागिर्द रफी ने भी अपने हुनर का लोहा मनवाया।

इसमें नौशाद साहब ने अपने सारी दिली ख्वाहिशें निकालीं। '*ऐ मोहब्बत जिंदाबाद*' गाने में 100 कलाकारों का कोरस गवाया। इस फिल्म के गीतों '*ऐ मोहब्बत जिंदाबाद*' और '*प्यार किया तो डरना क्या*' को प्रेम की दुनिया का एंथम कहा जा सकता है। इस फिल्म के लिए नौशाद ने कुल 20 गाने रिकॉर्ड किए थे। इनमें एक गाना शमशाद बेगम, मुबारक बेगम और लता जी की आवाज में '*हुश्न की बारात चली*' बोल से था। यह गाना तो छोड़ ही दिया गया, '*ऐ इश्क, ये दुनिया वाले बेकार की बातें करते हैं*', '*अकेले मुझे छोड़के कहां चले रे*' जैसे गाने भी के. आसिफ ने छोड़ दिए।

'मुगलेआज़म' से पहले 'कोहिनूर' (1960) आई थी, इस फिल्म के गीत- '*मधुबन में राधिका नाचे रे*', '*दो सितारों का जमीं पर है मिलन*' आदि गीत अपनी भावप्रवणता में कोई सानी नहीं रखते। नौशाद-शकील और लता-रफी की चौकड़ी ने जितने सदाबहार गीत हिंदी सिनेमा को दिए, उतने किसी और कम्बिनेशन ने नहीं दिए। फिर आई 'गंगा-जमुना' (1961) दिलीप कुमार की अल्हड़ता को '*नैन लड़ि जैहें*' जैसे गीतों में ही जीवंत किया जा सकता था। इसी फिल्म में लता जी द्वारा गाये गीतों- 'दगाबाज तोरी बतियां' और '*ढूंढो ढूंढो रे साजना*' में जो छेड़ है, वह भी बेमिसाल है। इस फिल्म में पूरब की मिठास पूरी तरह घोल दी थी नौशाद ने। ऐसी ही फिल्मों से नौशाद की लोकसंगीत पर पकड़ सामने आई।

1963 में राजेन्द्र कुमार के साथ फिल्म आई 'मेरे महबूब'। यह अपने जमाने की बड़ी सफल संगीतमय फिल्म थी। 'ऐ हुश्न जरा जाग तुझे इश्क जगाए', 'मेरे महबूब तुझे', 'मेरे महबूब में क्या नहीं', 'अल्लाह बचाए नौजवानों से' आदि इस फिल्म के गीतों ने सफलता की कई कहानियां लिखीं। इसके बाद भी नौशाद ने राजेन्द्र कुमार की फिल्मों पालकी (1967, साथी (1968), गंवार (1970), तांगेवाला (1972) और सुनहरा संसार (1975) के लिए हिट संगीत दिए।

1964 में फिल्म आई 'लीडर'। इस फिल्म के गीत '*एक शहंशाह ने बनवाके हसीं ताजमहल*' में नौशाद ने मोहब्बत की संजीदगी को जितनी रूमानियत से पेश किया, उसका मुकाबला किसी और गीत से नहीं हो सकता- '*अपनी आजादी को हम हरगिज मिटा सकते नहीं*' इसी फिल्म का गीत था। यह गीत और 'गंगा जमुना' में हेमंत कुमार की आवाज में गाया गीत '*इंसाफ की डगर पे*' जैसे गीत देशभक्ति गीतों में सबसे लोकप्रिय रहे हैं।

'*कोई सागर दिल को बहलाता नहीं*' जैसा गीत सुनने को मिला 'दिल दिया दर्द लिया' (1966) फिल्म में, जो नौशाद साहब ने ए.आर. कारदार प्रोडक्शन्स के लिए चौदह साल बाद बनाई थी। '*न आदमी का कोई भरोसा*' और '*आज पुरानी राहों से कोई मुझे आवाज न दे*' जैसे गीत सुनाई दिए फिल्म 'आदमी' (1968) में। इसी साल नौशाद की एक और फिल्म रिलीज हुई 'साथी' इसके गीत '*मेरे जीवन साथी में*' नौशाद को समय के साथ बदलते हुए पाश्चात्य ऑर्केस्ट्रा का भरपूर इस्तेमाल करते देखा गया, पर इसके लिए नौशाद का दिल साथ न दे रहा था। 1968 में महाश्वेता देवी के उपन्यास पर आधारित फिल्म 'संघर्ष' में भी नौशाद ने संगीत दिया। महाश्वेता देवी के उपन्यासों पर आगे 'रुदाली' और 'हजार चौरासी की मां' जैसी फिल्में हिंदी में बनीं। 'संघर्ष' फिल्म में '*मेरे पैरों में घुंघरू बंधा दे*' गीत लोगों को खूब भाया।

1970 में शकील के देहांत के बाद नौशाद को वे शब्द नहीं मिल रहे थे, जिनको सुर में सजाने के लिए वे अपने फन का इस्तेमाल करते। अब नौशाद ने फिल्में करना बहुत कम कर दिया। 1971 में फिल्म आई थी 'पाकीजा' इसके संगीतकार गुलाम मोहम्मद साहब का फिल्म पूरी होने से पहले ही देहांत हो गया। कमाल अमरोही के आग्रह पर नौशाद ने उस फिल्म का पार्श्व संगीत तैयार किया और एक गीत भी कंपोज किया '*नजरिया की मारी*'। कमाल अमरोही ने 1946 में बनी 'शाहजहां' फिल्म में नौशाद के साथ कहानीकार के रूप में काम किया था। 2004 में रिलीज हुई अकबर खां की फिल्म 'ताजमहल' में भी नौशाद ने संगीत दिया, पर ढलती उम्र और संगीत के नए साज एवं नए तरीके में नौशाद की सोच ढल न सकी।

नौशाद साहब के देहांत से ठीक पहले पाकिस्तान में उनकी दो फिल्मों 'मुगलेआजम' और 'ताजमहल' को प्रदर्शित करने की राजकीय अनुमति मिली। भारत-पाकिस्तान के रिश्ते में हो रही तब्दीली से वे बहुत राहत महसूस कर रहे थे। उन्होंने पाकिस्तान भेजे अपने संदेश में लिखा- *जो दर्द तुम्हारे हैं? अपने भी वही गम हैं, लग जाओ गले आकर जो तुम हो, वही हम हैं*। नौशाद साहब कमाल के शायर भी थे। उनका गीतों और ग़ज़लों का एक संग्रह 'आठवां सुर' नाम से लंदन से 1998 में प्रकाशित हुआ था। उसके कुछ गीत-ग़ज़ल उसी नाम से एक एलबम में उन्हीं के संगीत निर्देशन में उसी साल रिलीज हुआ। इससे पहले भी 1981 में महेन्द्र कपूर ने एक प्राइवेट एलबम 'दिल की बातें' में उनकी दो ग़ज़लों को गाया था। इस एलबम का संगीत भी महेंद्र कपूर ने ही दिया था। याद रहे कि महेंद्र कपूर को प्लेबैक में पहला अवसर नौशाद साहब ने ही दिया था। नौशाद ने छद्मनाम से कुछ फिल्मों की पटकथाएं भी लिखी थीं।

फिल्मी दुनिया में उनके महत्वपूर्ण योगदान के लिए नौशाद साहब को दादा साहेब फालके पुरस्कार मिला वर्ष 1981 के लिए, पद्मभूषण भी मिला। पर, वे इन पुरस्कारों से अधिक संगीत के उदात्त तत्वों को महत्व मिलने पर खुश होते थे। उनकी एक बड़ी ख्वाहिश थी संगीत सम्राट तानसेन पर टेलीविजन के लिए 52 एपिसोड का सीरियल बनाने की। इसके लिए उन्होंने तानसेन पर गहन शोध किया था। दूरदर्शन सहित कई चैनलों के पास वे प्रस्ताव लेकर भी गए, पर बताया गया कि तानसेन को बेचना मुश्किल होगा। नौशाद चुप बैठ गए, उनको क्या तानसेन को बेचना अच्छा लगता?

नौशाद हमारे बीच नहीं हैं। अब कोई भौंडे संगीत पर बोलनेवाला भी नहीं रहा। पर, जब भी कोई उनके गीत सुनेगा कर्णप्रियता का मतलब समझेगा, संगीत के महत्व को समझेगा, अपनी विरासत को समझेगा। ऐ नौशाद, जिंदाबाद! □

कहानी

पीज्जा

उमेश अग्निहोत्री

रेखांकन : संजीव शाश्वती

नेहा को पीज्जा खिलाने ले गया था। कल से जान आफत में कर रखी थी- 'पापा चलो, पीज्जा खाएंगे।' मैं टालता रहा था। आज सुबह मेरे मित्र प्रकाश ने हामी भर दी। वह दो-चार दिन के लिए हमारे यहां आया था। मेहमान था, नेहा की बातों में आ गया। पर दोपहर में उसके दोस्त रवि का फोन आया, कि वह शाम को उससे मिलने आ रहा है- सो प्रकाश व्यस्त हो गया। मैंने नेहा को समझाया, ''बिटिया, आज नहीं, कल चलेंगे, सभी चलेंगे, अब अकेले क्या जाना।'' पर वह कहां मानने वाली थी। बज़िद रही। सहेलियों को अपने साथ चलने के लिए तैयार करने लगी। उसने डिम्पल को फोन किया। जब उसने कहा, डैडी नहीं जाने देंगे- तो नेहा उसके डैडी के सर हो ली। उन्होंने टाल दिया। तब उसने दिव्या-शेफाली को फोन किया। फोन पर दिव्या-शेफाली के पापा थे, उन्होंने भी बड़े ढंग से और प्यार से नेहा को मना कर दिया। वह हारी नहीं। अतिया आंटी का नम्बर मिलाने लगी। मैंने कहा, ''नेहा वह बहुत दूर रहती हैं, कैसे आएंगी।'' ''तो फिर वर्मा आंटी और समित को ले चलो।''

वर्मा आंटी ने भी कोई मुश्किल बताकर इंकार कर दिया। इस बीच रवि आ गया। प्रकाश और रवि बैठक में बैठे बातें करने लगे। नेहा मेरे पीछे पड़ी रही। मैं उसे भीतर के कमरे में ले गया। वहां देखा, बड़ी बेटी शिमाली रो रही है। पूछा, ''क्या हुआ।''

बोली, कितनी पागल है यह। सब मना कर रहे हैं, फिर भी पीछे पड़ी है। इसे समझ क्यों नहीं आता। नौ साल की हो गई। शी इज सो डम।

दो रोज पहले जब शिमाली ने यही बात कही थी तो नेहा ने मुस्कुराते हुए बड़ी लापरवाही से जवाब दिया था, ''देयर इज नथिंग रौंग इन बीइंग डम।'' उसने अपने दोनों हाथ, अपनी जैकेट के जेबों में डाल लिए थे और यूं खड़ी हो गई थी, जैसे वह अपनी उम्र से दस साल बड़ी हो।

जब से मैं अपनी दोनों बेटियों को लेकर अमरीका लौटा हूं, अक्सर घर पर ही खाना बनाता हूं और वे दोनों बड़े शौक से खाती हैं। वैसे, खाना पकाने का यह मेरा पहला अवसर है। फिर भी वे मेरे पकवानों की तारीफ करती हैं। खाना खाते हुए कहेंगी- 'बहुत बढ़िया बना है...। सब्जी थोड़ी और देना।... आप तो शन्ना मौसी से भी अच्छा खाना पकाते हैं।...पापा...आज खिचड़ी बनाओ- जैसी मम्मी बनाती थी।...'

अक्सर खाना बनाने में वह मेरी मदद भी करती हैं। मैं सब्जी बनाता हूं, नेहा सलाद काटती है, मैं चपाती बनाता हूं, शिमाली उन्हें चुपड़ती है, मैं खाना परोसता हूं, तो दोनों प्लेट लगाती हैं।' बाद में वह बर्तन साफ करने को भी तैयार रहती है- मैं ही मना कर देता हूं।

यानी कि, यूं तो सब ठीक ठाक चल रहा है। बस मुश्किल तब पड़ती है, जब नेहा कहती है, ''पापा, बोर हो रही हूं, कहीं घूमने चलो, खाना बाहर खाएंगे।''

बड़ी बहन जो कहने की ही बड़ी है क्योंकि खुद अभी तेरह की ही है उसे कभी डांट से, कभी प्यार से समझाती है, लेकिन आखिर वही हार जाती है और रोती झींकती मेरे पास आती है, ''पापा, ... शी इज रियली डम। इसे समझ में क्यों नहीं आता। यह बच्ची तो नहीं है।''

मेरा सर भिन्ना जाता है। मुंह से निकलता है, ''हे भगवान! इनकी मां को जल्दी वापस भेज। वह ही इन्हें सम्भाल सकती है।''

हमें विदा करते हुए इनकी मां ने ठीक ही कहा



था, ''आप अकेले अपनी इन बिगड़ी शहजादियों को कैसे संभालेंगे। बड़ी तो तब भी समझदार है, लेकिन यह छोटी- नाक में दम कर देगी।''

मैंने जवाब दिया था, ''ऐसी क्या मुश्किल है, तीन-चार महीने की ही बात है। उसके बाद तुम आ ही जाओगी। तब तक कुछ कर-करा लेंगे।''

पास ही खड़े प्रीतेन्द्र मामा ने प्यार से अपनी भांजियों के गाल थपथपाते हुए कहा था, ''चौदह साल के विवाहित जीवन में, तुम्हारी मां को पहली बार आराम मिलेगा, और तुम्हारे पापा को पहली बार पता चलेगा कि वह शादीशुदा हैं।''

ठीक ही कहा था उन्होंने।

मुझे नेहा की जिद के आगे हार माननी पड़ी। बड़ी बेटी ने तो खीझकर साथ चलने से इंकार कर दिया, पर नेहा को पीज्जा खिलाने ले जाना ही पड़ा।

मुझे लगा, पीज्जा तो महज बहाना था, दरअसल वह उस जगह जाना चाहती थी, जहां पीज्जा तो मिलता है, पर साथ ही बहुत से वीडियो गेम लगे हुए थे और वह वीडियो गेम खेलना चाहती थी। वहां पहुंचते ही उसने दो डालर के टोकन लिए, मुझे हिदायत दी कि पीज्जा का आर्डर अभी मत देना और वीडियो गेम की कोई खाली मशीन ढूंढने लगी।

हर मशीन के आगे एक न एक व्यक्ति खड़ा था। कुछ अधिक लोकप्रिय खेलों के आगे दो-दो, तीन-तीन लड़के-लड़कियों की कतारें थीं, जो अपनी बारी के इंतजार में खड़े थे। वातावरण में वीडियो खेलों का कोलाहल था। लोग दायें-बायें, हर तरफ से आते-जाते दिखाई दे रहे थे। कोई पीज्जा लेने जा रहा था, तो कोई पीज्जा लेकर किसी स्थान पर बैठने। कोई किसी खेल की तरफ बढ़ रहा था तो कोई किसी खेल की तरफ। बच्चों वाले, अपने बच्चों पर नजर रखे हुए थे। उन्हें समझा रहे थे- ''अब बस करो, घर चलो।'' पर बच्चे मचल कर फिर खेलों की तरफ भाग जाते और जरा नजर हटती, कि न जाने कहां ओझल हो जाते। अचानक मैंने पाया, कि नेहा भी मेरे पास नहीं है। छुटकी-सी ना जाने कब भीड़ में गायब हो गई। मैंने देखा, वह एक वीडियो गेम के सामने खड़ी है। उसकी तेज चुस्त आंखों ने कोई खाली मशीन देख ली थी और उसने भागकर उस पर कब्जा कर लिया था।

मैंने करीब जाकर देखा वह पैकमैन नाम का खेल खेल रही है। उसकी आंखें वीडियो गेम के स्क्रीन पर जमी हुई हैं और उसकी छोटी-सी मुट्ठी एक लट्टूदार मूठ पर है जिसके इशारे पर, स्क्रीन पर पैकमेन नाम की एक गोलाकार चीज, अपनी

उमेश अग्निहोत्री

उमेश अग्निहोत्री वर्जीनिया में रहते हैं। कहानियां कथन, *हंस, कथादेश, वागर्थ, वर्तमान साहित्य*, पहल आदि प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छपती रही हैं। आजकल रंगकर्म की ओर अधिक झुकाव। वाशिंगटन महानगर क्षेत्र की नाटक मंडली प्रवासी कला मंच के संस्थापक सदस्य। अब तक लगभग 20 नाटकों का निर्देशन। आकाशवाणी और दूरदर्शन से संबद्ध रहे हैं। स्थानीय इमेज-इन एशियन टी-वी कार्यक्रम में 'लो कर लो बात' के प्रस्तुतकर्ता।

संप्रति : 7881 विंटरक्रेस लॉ, स्प्रिंगफील्ड , वर्जीनिया-22152 (अमरीका)

ई-मेल : uagnihot @ hotmail.com

लपलपाती जबान से आड़ी-तिरछी रेखाओं के बीच बिछे बिन्दुओं को गिनती जा रही है। जितने बिन्दुओं को पैकमैन निकालता है, खिलाड़ी को उतने ही अंक मिलते जाते हैं।

तो यह है उसका मनपसंद खेल, जिसके बारे में शिमाली ने मुझे बताया था कि नेहा बहुत अच्छा खेलने लगी है। उसने कहा था, शुरू-शुरू में नेहा का स्कोर हजार-दो हजार से ऊपर नहीं टापता था, पैकमैन बिन्दुओं को खाने की बजाये खुद ही किसी 'भूत' का शिकार हो जाता था, लेकिन अब नेहा दस-बीस हजार तक स्कोर बड़े मजे में कर लेती है, 'भूत' को पैकमैन के पास फटकने नहीं देती।

मुझे बच्चों का वीडियो खेल खेलना पसंद नहीं है। उन्हें ऐसे खेलों में रुचि लेनी चाहिए जिनसे शरीर की कसरत हो, हाथ-पांव हिलें, मांसपेशियां मजबूत हों यह क्या कि एक ही जगह पर खड़े हो रहे, और उंगलियों की जरा सी हरकत से स्क्रीन पर पैकमैन तो क्या बैडमिंटन, फुटबाल जैसे कसरती खेल खेलते रहे।

मैं चाह रहा था कि नेहा जल्दी से जल्दी दो-चार गेम खेले, पीज्जा खाए, और घर चले।

लेकिन वह मुझे घेर-घार कर लाई थी। इतनी आसानी से लौटने वाली नहीं थी। अपनी नौ-साल की उम्र में उसने इतना जरूर जान लिया था कि मां-बाप से कैसे काम निकाला जाता है। वह खेल में मेरी रुचि जगाने की कोशिश करने लगी, बीच-बीच में बोलती, ''पापा आप खेलोगे।'' मैं जवाब देता, ''तू ही खेल''।

वह मेरा हाथ पकड़ कर कहती है, ''खेलो न। आपको बड़ा मजा आएगा।''

मैं हाथ पीछे खींचता। वह फिर खेल में खो जाती।

''ओह गौश।'

''क्या हुआ।''

उसने मुझे समझाया, आठ सौ प्वाइंट मिलने वाले थे, जरा-सी गलती से रह गए।

मैं चुप रहा। खेल खत्म हुआ। मैंने कहा, ''चल अब।''

वह मुझे देखते हुए मुस्कुराने लगी।

मैंने पूछा, ''क्या हुआ।''

बोली, ''इट इज थ्रिलिंग।''

उसने मेरा हाथ पकड़कर मशीन पर रख दिया। मैं पैकमैन खेलने लगा।

वह अभी और बोलना चाहती थी, लेकिन मैंने उसे घर चलने के लिए जोर दिया और याद दिलाया कि प्रकाश अंकल इन्तजार कर रहे होंगे।

उसने मेरी बात नहीं सुनी, ''और पीज्जा'' वह ही खाने तो आए थे।

पीज्जा के लिए आर्डर देने के लिए कई काउंटर थे। हर कांउटर पर लंबी-लंबी कतारें थीं। पीज्जा के लिए पहले इन कतारों में खड़ा होना पड़ता, फिर बारी आती और उसके पन्द्रह-बीस मिनट बाद पीज्जा मिलता है। पीज्जा लेने वाले हर व्यक्ति को वीडियो गेम्स खेलने के लिए दो टोकन मुफ्त मिल रहे थे। मुझे लगा, नेहा इन्हीं टोकनों के लिए पीज्जा लेना चाहती है। कहा, 'घर चलकर खाना खा लेना।'

''नहीं।'' उसने दृढ़ता से कहा।

''क्यों''

''आपने प्रोमिस किया था, पीज्जा खिलाओगे पापा।''

''बहुत लंबी लाइन है नेहा।''

''लेकिन आपने कहा था... पापा''

''तो क्या हुआ''.... मैंने उसे चुप सा कराते हुए कहा।

उसने मेरा चेहरा देखा। फिर अनमने स्वर में कहा, ''ठीक है।'' और बाहर दरवाजे की तरफ चल पड़ी।

''अच्छा वापस आजा'' मैंने पुकारा।

''रहने दो पापा'' उसने गम्भीरता से कहा, मानो बिना खाए लौटना उसे बिल्कुल बुरा ना लग रहा हो।

मुझे लगा, मैंने अकारण ही उसकी जरा-सी इच्छा का गला घोंट दिया। इसलिए जोर देते हुए कहा, ''अब आ भी जाओ'' वह मेरे पास आकर

लघुकथा

आपकी यात्रा शुभ हो

विनायक

वह देश भारत के लिए अनजाना था। कारण स्पष्ट था, उस देश के साथ भारत का कभी राजनयिक संबंध नहीं रहा। ना ही भारत अथवा उस देश के किसी राजनीतिक अथवा शासनाध्यक्ष ने कभी एक-दूसरे के देश की यात्रा की थी।

हवाई यात्रा से लगभग बीस घंटे की दूरी पर स्थित उस देश के अब जो शासनाध्यक्ष बने थे उन्हें एक विशेष कारणवश भारत से लगाव था। वे प्रकृति प्रेमी थे और शेर देखने की लालसा उन्हें बचपन से थी। यही कारण था कि पद ग्रहण करने के कुछ ही दिनों बाद उन्होंने भारत से संबंध प्रगाढ़ करने की इच्छा प्रकट की थी। प्रत्युत्तर में भारत के शासनाध्यक्ष ने अविलंब उन्हें भारत आने का निमंत्रण भेजा था।

जब अतिथि शासनाध्यक्ष पधारे तो दो-एक दिन के पश्चात ही उन्होंने शेर देखने की अपनी दिली इच्छा जाहिर की। शासनाध्यक्ष को अगले ही दिन स्टेशन पर स्थित एक साइंटिफिक लैब में ले जाया गया। वहां उन्हें विभिन्न ग्लास ट्यूबों में रखे शेर के जीन्स, स्पर्म एवं ओवम आदि दिखाये गए जो डीप फ्रीजर में संग्रहीत थे। वरिष्ठ वैज्ञानिक ने उन्हें यह भी बताया कि जब भी आवश्यकता हो वहां हजारों शेरों को जन्म दिया जा सकता है। अतिथि महोदय को शेरनी का कृत्रिम गर्भाशय भी दिखाया गया।

शासनाध्यक्ष कुछ देर स्तब्ध खड़े रहे। उनका चेहरा जैसे पीला पड़ गया हो। फिर कुछ आहत होते फुसफुसाये, "लेकिन मैं तो जीवित शेर देखने आया था!" वे कुछ देर रुके रहे, फिर उसी बुझी-सी आवाज में बोले, "वैज्ञानिक महोदय, जब आपके पास यह सुविधा उपलब्ध है तो आप शेरों को जन्म दे उन्हें अरण्य में क्यों नहीं छोड़ते ?...

वैज्ञानिक महोदय एक फीकी-सी हंसी हंसे, फिर सिर नवाते सविनय बोले, "महामना, आप भारत पहली बार पधारे हैं और संभवत: यही कारण है कि आज के भारत के विषय में आप अधिक नहीं जान पाये हैं," फिर कुछ गला साफ करते बोले, "योर एक्सलेन्सी, हमारे पास अरण्य होते तो हम इन शेरों को टेस्टट्यूब में बंद करके क्यों रखते!"

आघात खाये अतिथि शासनाध्यक्ष राजधानी लौट आये। अगले दिन सुबह अपने देश को विदा होते समय, चलते-चलते, उन्होंने भारत के शासनाध्यक्ष से कहा, "आप ने अपने जंगलों और शेरों को क्यों नष्ट हो जाने दिया?"

भावशून्य हो भारत के शासनाध्यक्ष अतिथि की ओर देखते रहे, फिर हाथ से आगे बढ़ने का विनम्र संकेत करते धीरे से बोले, "आप की यात्रा शुभ हो।" □

खड़ी हो गई। लाइन धीरे-धीरे खिसक रही थी। काउंटर के दूसरी ओर खड़ा व्यक्ति हर ग्राहक से आर्डर ले रहा था, ग्राहकों से पैसे लेकर एक पर्ची पर नम्बर लिखकर अपनी बारी की प्रतीक्षा करने को कह रहा था।

काउंटर के पीछे लगी दीवार घड़ी से मैंने अन्दाजा लगाया कि मेरी बारी आने में अभी दस मिनट और लगेंगे और उसके बाद पीज्जा के लिए दस-पन्द्रह मिनट और इन्तजार करना पड़ेगा। नेहा मुझे बता रही थी कि वह बड़ा पीज्जा लेगी। शिमला मिर्च वाला। पैपरोनी वाला नहीं। वह उसे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता साथ में पीने के लिए कोका कोला लेगी ।

वह मुझे उलझाए रखना चाहती थी। उसने कहा, "पापा, हम पीज्जा घर ले चलेंगे। शिमाली भी खा लेगी। उसे भी यह बहुत अच्छा लगता है।"

मैं उसकी ओर देखे बिना, हां-हूं करता रहा।

जैसे ही आर्डर देने की हमारी बारी आई, काउंटर पर खड़े व्यक्ति ने कहा, "दो मिनट रुकिए, अभी आता हूं।"

'क्या मतलब'... इतनी देर से क्यू में खड़ा था। अब बारी आई, तो काउंटर खाली हो गया। अब और इन्तजार कर। मैं एकदम क्यू से निकल आया, बोला, "चल चलें।" और तेज कदमों से बाहर के दरवाजे की ओर चल दिया।

पीछे से मुझे नेहा की आवाज सुनाई दी- "क्यों पापा। अभी आप कह रहे थे पीज्जा खा ले, अब कह रहे हैं घर चल।" वह रुक-रुक कर मेरे पीछे चली आ रही थी।

मैंने खीझकर कहा, "बहुत देर हो रही है नेहा।"

आप हमेशा ऐसा करते हैं।" वह ना चाहते हुए भी मेरे पीछे-पीछे आ रही थी।

मैंने उसे फटकारा, " नेहा तूने मुझे बहुत तंग कर रखा है।"। तू चाहती है तुझे हर रोज कहीं न कहीं बाहर ले चलूं। मुझे और भी काम करने हैं।"

वह भी रोते हुए कुछ ऊंचे स्वर में बोलने लगी, "आप हमेशा ऐसा ही करते हैं हमेशा, हमेशा, हमेशा!!!

मुझे गुस्सा आ गया। उसकी पीठ पर एक हाथ जमाते हुए कहा, "बस कर। एक बात के पीछे पड़ जाती है। मेरी तौबा जो अब कभी पीज्जा खिलाने लाया तुम्हें।"

वह रो पड़ी। मैंने और भी फटकारते हुए कहा, "सीधे घर चलो। जो बना है खाओ! खबरदार मेरे सामने बाहर चलने का नाम लिया तो...", वह रुक गई। मैं आगे निकल गया। शिमाली, जो आपार्टमेंट की बॉलकनी में खड़ी हमारी प्रतीक्षा में झांक-झांक कर बाहर देख रही थी, उसने मेरे और नेहा के बीच यह झगड़ा होते भी देखा। वह सीढ़ियां फलांगती दौड़ी चली आयी। उसने नेहा के पास जाकर उसके कान में कुछ कहा। नेहा सुबकते-सुबकते फिर रोने लगी। शिमाली का चेहरा कुछ सख्त हो गया। मुझे लगा शायद उसने कहा है...यू आर सो डम।

मैं सीढ़िया चढ़ते हुए सोच रहा था कि मूढ़ कौन है...? □

मैं काम से अलग रहकर जीवित नहीं रह सकता



(जन्म : 18 दिसंबर 1887–निधन : 10 जुलाई 1971)

जनता के कवि और लोक कलाकार भिखारी ठाकुर से *प्रो. रामसुहाग सिंह* की बातचीत

बहुत कम ऐसे रचनाकार होते हैं, जो जीवित रहते मिथ बन जाते हैं। भिखारी ठाकुर एक ऐसे ही रचनाकार हैं। अपने जीवनकाल में ही वह भोजपुरी समाज के मिथ बन चुके थे। यद्यपि उनकी मृत्यु के बाद जितना फैलाव उनको और उनकी रचनाशीलता को मिलना चाहिए था, उतना नहीं मिला। भोजपुरी समाज और रंगकर्मियों ने तो उन्हें सामाजिक जीवन की मुख्यधारा में सम्मान के साथ जीवित रखा, पर हिंदी की दुनिया ने उन्हें वह सम्मान और महत्व नहीं दिया जो उन्हें मिलना चाहिए था। इसका अनुमान आप इसी बात से लगा सकते हैं कि हिंदी में भिखारी ठाकुर पर आपको ढंग की एक भी किताब नहीं मिलेगी। राहुल सांकृत्यायन ने जरूर उन पर गंभीरता के साथ लिखा, पर जिस तरह के गंभीर विमर्श की मांग उनका रचना–कर्म करता है, वह दिखलाई नहीं पड़ता है।

आशा है कि बिहार राष्ट्रभाषा परिषद से प्रकाशित* भिखारी ठाकुर रचनावली *(2005) के बाद उन पर गंभीर विचार–विमर्श की प्रक्रिया शुरू होगी।

प्रस्तुति : देवेन्द्र चौबे

भोजपुरी के जनकवि और लोक कलाकर **भिखारी ठाकुर** से प्रो. रामसुहाग सिंह की इस बातचीत की भी एक अलग कहानी है। बात उन दिनों की है, जब रांची के कुछ युवा लेखकों ने परिचय नाम की संस्था बनाई और 'न्यू मेसैज' की संपादिका सुधा सिन्हा के कार्यालय में अपनी साप्ताहिक बैठकें शुरू कीं। प्रियदर्शन, सुबोध सिंह, नीहारिका सिन्हा, मेहरून्निसा अब्दाली, संजय करुणेश, अश्विनी कुमार पंकज और मैं उन बैठकों में शामिल होने वाले सक्रिय युवा थे। इनमें अश्विनी की दिलचस्पी नाटकों में थी और उन दिनों वह **रंगश्री** नामक नाट्य संस्था को संयोजित और संचालित करने में लगे थे। अश्विनी भिखारी ठाकुर की कला से काफी प्रभावित थे तथा उनकी इच्छा थी कि उन पर कोई महत्वपूर्ण कार्य हो। उन दिनों मैं रांची विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर छात्रावास में रहता था, पर बीच-बीच में करमटोली स्थित प्रोफेसर कॉलोनी में एक मित्र के यहां ठहर जाता था, जहां हमारी सामूहिक पढ़ाई होती थी। ठीक हमारी बगल में ही संत जेवियर कॉलेज, रांची के प्रो. रामसुहाग सिंह जी का घर

था और उनसे थोड़ी दूरी पर कहानीकार वासुदेव जी का घर। 1986 की सर्दियों में अचानक एक दिन जाड़े की धूप सेंकते प्रो. सिंह मुझे दीख गए और मैं सौजन्यतावश उनसे मिलने चला गया। **परिचय** का नाम उन्होंने सुन रखा था और मुझे तो उनकी सबसे अच्छी बात यह लगी कि वह बिना किसी भूमिका के सहजतापूर्वक देर तक बातें करते रहे। तब तक मेरी पहली कहानी **युद्ध** *रांची एक्सप्रेस* में छप चुकी थी और कुछ अन्य रचनाएं लघु पत्रिकाओं में। बातचीत में ही पता चला कि वह हमारे कई मित्रों से परिचित हैं, खासकर अश्विनी कुमार पंकज, मेहरून्निसा आदि। उस दिन उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के अनेक संस्मरण सुनाए- **फादर कामिल बुल्के** के बारे में, हिंदी साहित्य के इतिहासकार प्रो. रामखेलावन पाण्डेय, कथाकार राधाकृष्ण, प्रो. दिनेश्वर प्रसाद, प्रो. सिद्धनाथ कुमार, कथाकार श्रवण कुमार गोस्वामी और न जाने किन-किन लेखकों के बारे में। मुझे आज भी याद है, भिखारी ठाकुर से मिलने का जो संस्मरण उन्होंने सुनाया वह रोचक और अविस्मरणीय था। खासकर कलकत्ता के पूर्वी सीमांत धापा के श्री सत्यनारायण के भवन परिसर में पहली जनवरी 1965 में हुआ उनका अभिनंदन समारोह, जिसमें वे स्वयं शामिल थे।

उसके बाद कई बार उनसे मिलना-जुलना हुआ। उनसे हर मुलाकात प्रेरणादायक होती। हिंदी समाज को लेकर कई बार उनके चेहरे पर पीड़ा के भाव आ जाते, खासकर अकादमिक दुनिया को लेकर। वे बार-बार कहते कि लिखने-पढ़ने वाले लोगों को अध्यापन के क्षेत्र में आना चाहिए। इससे अकादमिक दुनिया की तस्वीर बदलेगी। उन्होंने बताया की किस तरह बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, इलाहाबाद वि.वि., जोधपुर वि.वि, दिल्ली वि.वि., सागर वि.वि., पटना वि.वि. आदि की तस्वीरें क्रमशः रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास, हजारी प्रसाद द्विवेदी, धीरेन्द्र वर्मा, रामकुमार वर्मा, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी, अज्ञेय, नगेंद्र, देवीशंकर अवस्थी, मन्नू भंडारी, रामदरश मिश्र, विश्वनाथ त्रिपाठी, नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह, मैनेजर पाण्डेय, नंददुलारे वाजपेयी, नलिन विलोचन शर्मा आदि ने बदली। बहरहाल उसी दौरान भोजपुरी साहित्य पर चर्चा के प्रसंग में उन्होंने बताया कि **भिखारी ठाकुर** से उनकी एक अनौपचारिक बातचीत हुई थी, जिसके नोट्स उन्होंने ले रखे हैं। अश्विनी, भिखारी ठाकुर पर किसी पत्रिका का विशेषांक निकालने की योजना बना रहे हैं तथा उसमें वे उस बातचीत का अंश प्रकाशित करना चाह रहे हैं। आजकल उसी को ठीक करने में लगे हैं।

इसे महज संयोग कहना ठीक नहीं होगा कि बाद में अश्विनी कुमार पंकज ने भिखारी ठाकुर पर जो पत्रिका निकाली वह उनकी सर्वाधिक लोकप्रिय शैली 'बिदेसिया' के ही नाम से। बाद में अश्विनी द्वारा संपादित इस पत्रिका के प्रवेशांक, दिसंबर-1987 में, भिखारी ठाकुर से प्रो. रामसुहाग सिंह की बातचीत का वह अनौपचारिक अंश छपा तथा उसकी खूब चर्चा हुई। यह संभवतः भिखारी ठाकुर का पहला और आखिरी साक्षात्कार है, जो अब तक की जानकारी में उपलब्ध है। यद्यपि इस पत्रिका के दो अंक ही निकले, पर भिखारी ठाकुर पर केंद्रित अंकों ने इसे और अश्विनी कुमार पंकज को महत्वपूर्ण बनाया। इसे आश्चर्य कहना तो ठीक नहीं होगा, क्योंकि ज्ञान की दुनिया बहुत बड़ी है; पर इस बात का उल्लेख करना जरूरी है कि पिछले वर्ष, यानी 2005 में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना से प्रकाशित और वीरेंद्र नारायण यादव एवं नागेंद्र प्रसाद सिंह द्वारा संपादित **भिखारी ठाकुर रचनावली** में यह बातचीत शामिल नहीं है। शायद रचनावली के दूसरे संस्करण में संपादक मण्डल इसे शामिल करे।

लोक कलाकार भिखारी ठाकुर से प्रो. रामसुहाग सिंह की यह बातचीत कोई बहुत गंभीर साहित्यिक बहस नहीं खड़ा करती है और न ही लोककला के बारे में कोई गंभीर स्थापनाएं ही देती है। यह बातचीत जीवन के छोटे-छोटे अनुभवों और प्रसंगों पर आधारित है। जिनके आधार पर भिखारी ठाकुर के जीवन, उनकी कला और कला की निर्मिति के सहयोगी कारकों को समझा जा सकता है। प्रो. सिंह ने इस अनौपचारिक बातचीत में उनसे बहुत छोटे-छोटे सवाल पूछे हैं और इसे भिखारी ठाकुर की सहजता, सरलता और संवाद-संचार कला की दक्षता ही कहा जाएगा कि उन्होंने जवाब अत्यंत छोटे-छोटे दिए हैं। कई बार तो सवाल से भी छोटे जवाब। जैसे, सवाल: अच्छे नाटक या अच्छी कविता के आप क्या लक्षण समझते हैं? भिखारी ठाकुर का जवाब देखिए : "जनता की भीड़ से।" अर्थात अच्छी रचना के लिए जनता से संपर्क और सीधा संवाद होना जरूरी है। इस जवाब से एक अर्थ यह भी निकलता है कि बिना जनता के बीच गए अच्छी रचना हो ही नहीं सकती है। और वह जनता, जो भीड़ की शक्ल में या तो किसी आंदोलन में शामिल है अथवा सामूहिक रूप से अपने दमन या शोषण के खिलाफ प्रतिरोध दर्ज कर रही हो। **इतिहास और वर्ग चेतना** में जार्ज लुकाच ने मार्क्स के सर्वहारा वर्ग की चर्चा करते हुए जिस वर्ग की परिकल्पना की है, यह संघर्षरत लोगों का वही समूह है जो भीड़ के रूप में किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एकत्रित होता है। भिखारी ठाकुर यहां जनता की जिस भीड़ का उल्लेख कर रहे हैं, यह वही जनता की भीड़ है जो किसी लेखक या कलाकार को सोद्देश्य रचना अथवा कला के लिए उत्प्रेरित करती है। भिखारी ठाकुर की इस बातचीत को पढ़ते हुए आप भी महसूस करेंगे कि वह प्रेमचंद की तरह जिंदगी के छोटे-छोटे अनुभवों के सहारे एक बड़ी दुनिया रचते हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि प्रेमचंद जहां प्रगतिशील विचारधाराओं के सहारे अपने लेखन को सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक मुक्ति के सवालों से जोड़ देते हैं, वहीं भिखारी ठाकुर अपनी कला को लोक की उत्पीड़ित जनता से जोड़ते हुए उसे सामाजिक परिवर्तन और विकास का हिस्सा बना देते हैं। शायद इसीलिए आज भी भिखारी ठाकुर विशिष्ट समाज के बदले, लोक समाज का हिस्सा बने हुए हैं।

भिखारी ठाकुर की लोककला पर बहुत बातचीत हुई है। नाट्य कला की दुनिया में उन्होंने अपनी भाव-भंगिमाओं और सामाजिक संदर्भों के माध्यम से जिस **बिदेसिया** कला शैली (जिसे लोक-नृत्य शैली के रूप में भी जाना जाता है) का प्रवर्तन किया, वह अद्‌भुत है। पूर्वी धुन, बिरहा, लोरिकायन, कुवर-विजयी, आल्हा, कजरी, सोरठी आदि लोकगीतों की रचना के माध्यम से उन्होंने भोजपुरी समाज के सरल, धर्मभीरु, सत्यनिष्ठ और जुझारू आंचलिक जीवन का वर्णन किया है। **राहुल सांकृत्यायन** से लेकर जगदीशचंद्र माथुर तक ने उन पर लिखा है। राहुल सांकृत्यायन उनको भोजपुरी का हीरा मानते थे और जगदीश चंद्र माथुर भरत मुनि की परंपरा में रंगमंच के अनूठे नायक। यहां तक कि भरत मुनि के मानस वंशज! जगदीश चंद्र माथुर पर भिखारी ठाकुर का प्रभाव कितना अधिक था, उसका अंदाज निम्नलिखित पंक्तियों से लगाया जा सकता है: "अनेक व्यक्तियों को बड़े लोगों के हस्ताक्षर जमा करने का शौक बचपन से ही लग जाता है। यह शौक मुझ पर कभी हावी नहीं हो पाया। पर एक बार- केवल एक बार मैंने एक व्यक्ति से आटोग्राफ मांगा। वह व्यक्ति थे- भिखारी ठाकुर।" भिखारी ठाकुर की कला और जिंदगी के बारे में इस प्रकार के विचार उदय नारायण तिवारी, दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, कृष्णदेव उपाध्याय, केदार नाथ सिंह, मैनेजर पाण्डेय और पाण्डेय कपिल जैसे भोजपुरी भाषा और साहित्य के विचारकों ने भी दिये हैं। पर इस बातचीत को पढ़ते हुए आप महसूस करेंगे कि भिखारी ठाकुर मूलतः जनता के आदमी हैं। उस जनता के जो अपनी छोटी-छोटी आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं के लिए बड़ी-बड़ी मुसीबतें सहती है। यही कारण है कि कला और साहित्य की दुनिया

में भिखारी ठाकुर जनता के प्रतिनिधि बनकर आते हैं। यह एक महत्वपूर्ण बात है और यही सारी बातें भिखारी ठाकुर को भी महत्वपूर्ण बनाती हैं।

दरअसल कला और जिंदगी के बीच घनिष्ठ संबंध होते हैं। अनेक रचनाकार कला और जिंदगी को अलग-अलग करके देखते हैं। भिखारी ठाकुर उन लोगों (कलाकारों) में से थे जिन्होंने कला और जिंदगी के बीच के फर्क को पाटा, कला को वास्तविक जिंदगी का हिस्सा बनाया तथा उसे प्रगतिशील परपरंपराओं से जोड़ते हुए सामाजिक विकास और परिवर्तन का जरूरी हिस्सा बनाया। यह बातचीत, भिखारी ठाकुर की इसी सोच का उदाहरण प्रस्तुत करती है। जिन्होंने भिखारी ठाकुर को न तो पढ़ा है और न ही सुना है, उन्हें यह बातचीत भिखारी ठाकुर की जिंदगी को जानने और उनकी रचनाओं को पढ़ने के लिए जरूर प्रेरित करेगी।

1 जनवरी 1965 ई. के एक बजे पूर्वाह्न में लोक कलाकार भिखारी ठाकुर की 77 वीं वर्षगाठ के शुभ अवसर पर धापा (कलकत्ता के पूर्वी सीमांत) में श्री सत्यनारायण के भवन परिसर में भव्य अभिनंदन के लिए समारोह का आयोजन हुआ। अभिनंदन के समापन के उपरांत साक्षात्कार का क्रम सरल भाषा में, स्वाभाविक वार्तालाप के रूप में प्रारंभ हुआ।

रामसुहाग सिंह : **भिखारी ठाकुर जी आपकी जन्म-तिथि क्या है?**

भिखारी ठाकुर : सिंह साहब, 1295 साल पौष मास शुक्ल पक्ष, पंचमी, सोमवार, बारह बजे दिन।

आपका जन्म स्थान कहां है?

कुतुबपुर दियर, कोढवा पट्टी रामपुर (सारण)।

आपके पिताजी का क्या नाम है?

दलसिंगार ठाकुर।

आपके दादा जी का क्या नाम है?

गुमान ठाकुर।

क्या आपके पिताजी पढ़े-लिखे थे?

वे...अशिक्षित थे।

आपकी शिक्षा किस श्रेणी तक हुई?

स्कूल में केवल ककहरा तक, मैंने एक वर्ष तक पढ़ा पर कुछ नहीं आया। भगवान नामक लड़के ने मुझे पढ़ाया।

आपके पिताजी की आर्थिक स्थिति कैसी थी?

जमीन तथा अन्य सम्पत्ति बहुत ही कम थी, गरीबी थी।

आपके जमींदार कौन थे?

मेरे जमींदार आरा के शिवसाह कलवार थे।

आपके साथ उनका व्यवहार कैसा था?

उनका व्यवहार अच्छा था।

क्या लड़कपन से ही नाच-गान की ओर आपकी अभिरुचि है?

मैं तीस वर्ष तक हजामत करता रहा, निमंत्रण देता रहा।

कैसे नाच गान और कविता की ओर आपकी अभिरुचि हुई?

मैं कुछ गाना जानता था। नेकबाम टोला के एक हजाम रामसेवक ठाकुर ने मेरा एक गाना सुनकर कहा कि बहुत शुद्ध है। उन्होंने यह बताया कि मात्रा की गणना इस प्रकार होती है। बाबू हरिनंदन सिंह ने मुझे सर्वप्रथम रामगीत का पाठ पढ़ाया। वे अपने गांव के थे।

आपके गुरुजी का क्या नाम था?

स्कूल के गुरुजी का नाम याद नहीं है।

आपने अपना पेशा कब से कब तक किया?

तीस वर्ष की उम्र तक।

क्या अपने पेशे के समय भी आप नाच-गान का काम करते थे?

तीस वर्ष के बाद से नाच-गान का काम कभी नहीं रुका।

सबसे पहले आपने कौन कविता बनाई?

बिरहा-बहार पुस्तक।

सबसे पहले आपने कौन-सा नाटक बनाया?

बिरहा-बहार ही नाटक के रूप में खेला गया।

सबसे पहले बिरहा-बहार नाटक कहां खेला गया?

मुजफ्फरपुर जिला के सर्वमस्तपुर ग्राम में लग्न के समय में *बिरहा-बहार* नाटक सर्वप्रथम खेला गया। मैं जोड़ी बजाने गया था, पर अच्छी तरह बजा नहीं सका, गाया भी नहीं।

क्या आपके पहले भी इस तरह का नाटक होता था?

मैंने 'बिदेसिया' नाम सुना था, 'परदेसी की बात' आदि के आधार पर मैंने *बिरहा-बहार* बनाया।

इस तरह के नाम की प्रेरणा आपको कहां से मिली?

कोई पुस्तक मिली थी, पर याद नहीं है।

क्या आप छंद शास्त्र के नियमों के अनुसार कविता बनाते हैं?

मैं मात्रा आदि नहीं जानता हूं, *रामायण* की चौपाई के ढंग पर कविता बनाता हूं।

आपकी लिखी हुई कौन-कौन पुस्तकें हैं?

बिरहा-बहार, बिदेसिया, कलियुग-बहार, हरिकीर्तन, बहरा-बहार, गंगा-स्नान, भाई-विरोधी, बेटी-वियोग, नाई-बहार, श्री नाम-रत्न, राम-नाम माला आदि।

सबसे हाल की रचना कौन है?

नर नव अवतार।

आपकी अधिकांश पुस्तकें कहां-कहां से प्रकाशित हैं?

पुस्तकों से मालूम होगा।

आपके विचार में आपकी सबसे अच्छी रचना कौन है?

भिखारी हरि-कीर्तन और *भिखारी शंका समाधान*।

आप जब कोई पुस्तक लिखवते हैं तो क्या किसी दूसरे से भी दिखवाते हैं?

मानकी साह (गांव के ही हैं) वे अभी जीवित हैं। वे सिर्फ साफ-साफ

लिख देते हैं। उन्हें शुद्ध-अशुद्ध का ज्ञान नहीं है। *रामायण* का सत्संग स्वर्गीय बाबू, रामानंद सिंह के द्वारा हुआ। श्लोक का ज्ञान दयालचक के साधु गोसाईं बाबा से हुआ।

रायबहादुर की उपाधि, आपको कब मिली?

रायबहादुर आदि की जो मुझे उपाधियां मिलीं उन्हें मैं नहीं जानता हूं। कब क्या उपाधियां मिलीं मुझे कुछ मालूम नहीं है।

क्या आपको यह आशा है कि आपका कोई उत्तराधिकारी होगा?

मेरे भतीजा गौरी शंकर ठाकुर (शिक्षा लोअर कक्षा तक) मेरी रचनाओं के आधार पर काम करते हैं।

आपकी सन्तानें कितनी हैं? आपके लड़के क्या करते हैं?

एक लड़का है, शिलानाथ ठाकुर, वह घर-गृहस्थी का काम करता है। उसे नाच आदि से कोई संबंध नहीं है।

क्या आप विश्रामपूर्ण जीवन बिताना चाहते हैं?

मैं इस काम से अलग रहकर जीवित नहीं रह सकता हूं। अर्थ का कारण गौण है।

आप तो जनता के कवि है, इसीलिए स्वतंत्रता के पहले और बाद में आप क्या अंतर पाते हैं?

मैं कुछ कहना नहीं चाहता।

वर्तमान शासन से क्या आप खुश हैं?

उत्तर देना सम्भव नहीं है।

अभी तक आपको कितने पुरस्कार, पदक आदि मिले हैं?

याद नहीं है।

हाल में आपको क्या कोई उपाधि मिली है?

हां, बिहार-रत्न की।

बिहार के बाहर आप अपना नाच दिखाने कहां–कहां गए हैं?

आसाम, बनारस, कलकत्ता और बंबई- सिनेमा में एक गीत देने के लिये।

कैसे आप समझते हैं कि आपके नाच से लोग प्रसन्न हैं?

कोई उत्तर नहीं।

क्या आप पूजा–पाठ, संध्या वन्दना भी करता हैं? किन देवताओं की पूजा करते हैं?

सिर्फ राम-नाम जपता हूं।

जिन्दगी को आप सुखमय या दुःखमय समझते हैं? हिंदी छोड़कर और कोई भाषा जानते हैं?

मौन।

इस समय आपके नाच के ढंग पर और कौन नाच हैं?

अनेक नाच इसी आधार पर हो गए हैं।

क्या कुछ दिनों तक सिनेमा में भी आप थे? सिनेमा का जीवन आपको कैसा मालूम हुआ?

नहीं।

आप अपने दल के लोगों को क्या खुद अभ्यास कराते हैं?

उस्ताद से सिखवाते हैं।

आप जो नाटक दिखाते हैं उसका लक्ष्य धनोपार्जन के अतिरिक्त और क्या समझते हैं?

उपदेश और धनोपार्जन।

स्वास्थ्य कैसा रहता है?

अभी तक केवल दो-तीन दांत टूटे हैं।

नाटक के बाद की थकावट कैसे दूर होती है?

मौन।

क्या आप राजनीति में भाग लेना चाहते हैं?

निरुत्तर।

पुनः आपका जन्म इसी देश में हो तो क्या आप यही कार्य चाहते हैं?

कोई निश्चित नहीं।

कविता करने या नाटक लिखने के लिये आपको क्या तैयारी करनी पड़ती है?

पहले तैयारी करनी पड़ती थी, पर अब नहीं।

अपने नाटकों के कथानक आप कहां से लेते हैं?

समाज से।

इस समय आपके अनन्य मित्र कौन–कौन हैं?

अब कोई नहीं है, बाबू रामानंद सिंह थे।

क्या आपकी कोई स्थायी नाट्यशाला है?

कोई स्थायी जगह नहीं है।

अच्छे नाटक या अच्छी कविता के आप क्या लक्षण समझते हैं?

जनता की भीड़ से।

***रामायण* या और कोई उच्चकोटि के ग्रंथ जब आप पढ़ते हैं तब अपने आप ही अर्थ समझ लेते हैं या किसी से सहायता लेते हैं?**

कभी-कभी किसी से पूछ लेते हैं।

क्या आपको मालूम है कि इस समय आपका उच्चकोटि के कालाकारों में स्थान है?

जो मुझे प्राप्त हुआ है वही मेरे लिये पर्याप्त है।

भूतपूर्व राष्ट्रपति देशरत्न डा. राजेन्द प्रसाद से सबसे पहले और अन्त में कब भेंट हुई?

मुझे याद नहीं।

क्या वर्तमान राष्ट्रपति (डा. राधाकृष्णन) से और वर्तमान प्रधानमंत्री (श्री लाल बहादुर शास्त्री) से कभी आपकी भेंट हुई है?

कभी नहीं।

पंडित जवाहरलाल जी ने कभी आपका नाटक देखा था?

कभी नहीं देखा था।

गांधीजी ने आपका नाटक देखा था या उनसे कभी भेंट हुई थी?

निकट से साक्षात्कार नहीं हुआ। □

(*बिदेसिया* अंक 1, दिसंबर 1987 से साभार)

तीन कविताएं : **रमेश चंद्र पंत**

कस्बे में

अपनी
जड़ों से उखड़कर
गैंती, फावड़ा, कुदाल उठाए
ये कहीं दूर से आए हैं
ईंट, मिट्टी, गारा ढोने के लिए

पहाड़ की
तलहटी में बसा यह कस्बा
रोज़ कुछ–न–कुछ
बदलता जा रहा है
खुलते जा रहे हैं
नए–नए सरकारी
गैर–सरकारी विभाग
और बढ़ते जा रहे हैं लोग
रोजी–रोटी की तलाश में

उतरते हैं
रोज़–रोज़ अकेले
नए–नए, परिवार समेत
और साथ में फैलता जा रहा है
इमारतों का जाल

हरियाली जो फैली थी
एक छोर–से–दूसरे छोर तक
उन्हें तब्दील करने के लिए
कंक्रीट के जंगलों में

किन–किन के सपनों को
पूरा कर पाएगा यह
किन–किन को मिलेगी
अपनी मंजिल
कोई नहीं जानता

सब उम्मीदों पर जीने के लिए
अभिशप्त हैं
एक अंतहीन तलाश
कल शायद कुछ और बेहतर हो जाए
अपनी जड़ों से उखड़कर
आना जारी है लोगों का इस कस्बे में!

वर्चस्व के लिए

कर तो
वह भी सकता है
वह सब–कुछ
जिन पर
तुम्हें फख्र है

बहुत कुछ छोड़कर
स्पंदित
सीढ़ियां चढ़ते चले जाना
हो सकता है
गंतव्य तुम्हारे लिए
रहने दें उसे
कुछ
दूसरे ही तरह की
उम्मीदों से भरी
दुनिया के लिए
जहां
कुछ न होते हुए भी
बहुत कुछ है
नहीं है तो केवल
अंधेरी गलियों की
संवादहीनता

महज अपने विचारों
आस्थाओं
स्वार्थों के
वर्चस्व के लिए
इतिहास
दुहराता है खुद को
यदि हम देखें
निश्चय ही
जो बीत गया!

खुशबू की तरह

जब नहीं रहेगा कहीं–कुछ
ध्वस्त हो जाएगी पृथ्वी
यह दुनिया
हवा में घुली
खुशबू की तरह
बची रहेंगी कविताएं तब भी

सूरज की
पहली किरण के साथ
जिस प्रकार
चेतन हो उठता है
इंद्रधनुषी आभा से
यह अखिल विश्व
कुछ उसी तरह निरंतर
सक्रिय रहेंगी कविताएं

निश्चय ही
इस धरती को
रहने लायक
बनाए रखने में संलग्न
एक सुख का नाम हैं
कविताएं

लहलहाता है आत्मा में
कल्पवृक्ष
चाहकर भी कोई कैसे
उदासीन रह सकता है इनसे
एक अटूट रिश्ता
रच–बस जाने का भीतर
कहीं अंतर की गहराई में
उमगी थी जहां से कभी
बाल्मीकि की वाणी शाश्वत!

तीन कविताएं : **श्याम सिंह चौहान**

सदियों बाद ताजमहल

वही पत्थर है यह
सहलाया था जिसे कभी
अपनी अंगुलियों से
नुकीली छेनी से
बसाया था जादुई आंखों को मन में
सदियों पहले
बरसों तक उकेरा था मैंने
संगमरमर में एक सपना
आज देखते हैं लोग
पूजते हैं बसाते हैं मन में
चकित होते हैं
कैसे किसी ने
आकार दिया उस अमूर्त भाव को

पत्थर ही है वह
दूसरे पत्थरों से जुड़ा
राजमिस्त्रियों की करामात
पर इतिहास में दर्ज है एक राजा
और उसका प्रेम

वह प्रेम ही था जिसके कारण
मैंने बनाए थे गुम्बद
पर वह मेरा प्रेम था
फिर मेरे हाथ काटे गए
वह शीशे जैसा पत्थर था
टूटना ही था उसे
वही टूटन हमेशा के लिए
दर्ज है पत्थर में !

स्मृतियां

गांव से आई है मां
साथ में लाई है स्मृतियां
टूटते–बिखरते संबंधों के रिश्ते
ढलती उम्र की थकान
विभाजन की पीड़ा और दर्द
लेकिन आई नहीं वह मां
पूर्णिमा की रात चौका–चूल्हा पोथ कर
पकाती थी कई व्यंजन
गृहिणी के गौरव से
दीप्त मुख–कुमुद
मां के उल्लास में दमकता था घर–परिवार
इस मां के साथ आई नहीं वह मां
नवरात्रों की हर रात में
करती थी टोने–टोटके
हमारे मंगल के लिए
दीपावली की रात भगाती थी दुख–दर्द
न्योता देती शुभ लक्ष्मी को।

मां के वे दिन बन गए गीत
गणेश चतुर्दशी के दिन
एकत्र होता था पूरा परिवार
हम सब उगते चांद को देखते थे उल्लास से
दोने भरे दही, केले के पत्तों पर
गेंदे और गुलाब के फूल बिखरे होते थे
हम सबको जोड़ने वाली दादी मां की तरह
मां भी झेल रही है
सांझे चूल्हे के टूटने की त्रासदी
एक बार फिर आएगी
मां पर स्मृतियां
लेकिन वह मां फिर कभी नहीं आएगी।

थकान और सपने

वह समय अच्छा था
जब परिश्रम करता था खेतों में
उषा की मंजुल लाली के फैलने से पहले
पहुंच जाता था खेत में
नंगे पैर हांकता था बैलों को

सांसों में तैरती थी अनमोल हवा
पेड़ों की महक फूलों की खुशबू
माटी की सुगंध
पहाड़ की चोटी से
उभरता सूरज
बहुत सुहावना लगता मन को भाता

सोचता था कैसे दूं
बैलों को राहत
उधर से मां चली आती
चूल्हे की मोटी रोटी व चटनी
कंडी को सिर पर लादे
कलेवा खाकर
बैलों को देकर गोले आटे के
फिर जुट जाता धरती फाड़ने को

दिन भर की थकान
ले जाती सपनों की दुनिया में

शहर की सड़कों पर
भटकते–भटकते
उस समय को ढूंढता हूं आज
थकान तो साथ आ गई है
लेकिन सपनों की वो दुनिया
कहीं खो गई है !

कविता : **निर्मला पुतुल**

सोचना पड़ेगा हमें

अगर हमारे विकास का मतलब
हमारी बस्तियों को उजाड़कर कल
कारखाना बनाना है
तालाबों को भोथकर राजमार्ग
जंगलों का सफाया कर ऑफिसर्स कॉलोनियां बसानी हैं
और पुनर्वास के नाम पर हमें
हमारे ही शहर की सीमा से बाहर हाशिये पर धकेलना है
तो तुम्हारे तथाकथित विकास की मुख्यधारा में
शामिल होने के लिए
सौ बार सोचना पड़ेगा हमें

सोचना पड़ेगा, अपनी झोपड़ी के बदले
तुम्हारे आवास लेने पर
तुम्हारे हर प्रस्ताव पर गौर करना पड़ेगा
समझना पड़ेगा, न समझ में आने वाली बात
और तुम्हारे समझाने के तरीके भी

समझना पड़ेगा
मेरे गांव को मुख्य सड़क मार्ग से जोड़ने के लिए
सड़क बनाना चाहते हो तुम
या मेरे गांव तक पहुंचने के लिए
बनाना चाहते हो सड़क
हमें बाजार उपलब्ध कराना है
या बाजार को हम तक पहुंचने का रास्ता देना है

हम से हमारे पत्थरों को तोड़वाकर
शहर ले जाने का इरादा है तुम्हारा
या दिख गई है किसी नए खदान की संभावना यहां
या फिर हमारे जंगलों की लकड़ियां
और गांव की लड़कियों पर लग गई है
तुम्हारी नजर
समझना पड़ेगा हमें

समझना पड़ेगा तुम्हारी उदारता का राज
क्योंकि आज से पहले इतने उदार जो नहीं
दिखे तुम

संशय में हैं हम कि
तुम सचमुच हमारा विकास चाहते हो
या फिर अपने और अपने उन पालतू लोगों का
जो इन दिनों विकास का नया–नया मतलब
समझा रहे हैं हमें

जानती हूं कि मेरी असहमति खल जाएगी तुम्हें
और तुम्हारे विरोधियों की लिस्ट में
एक नाम मेरा भी दर्ज हो जाएगा

तुम तर्क दोगे
बताओगे हमारे ही लोगों को हमारे बारे में
कि उनका नहीं होने देते विकास हम
विकास विरोधी है हमारी सोच
जंगली असभ्य और पिछड़ा भी बने रहना चाहते हैं हम

पता है तुम्हारी हर तीसरी बात में
विकसित लोगों और देशों का जिक्र आएगा
और उनसे हमारी तुलना कर बताओगे तुम
कि हम कहां हैं, कितने पिछड़े हैं हम

अफसोस यह तुम नहीं बताओगे
कि किन शर्तों पर हमारा विकास करना
चाहते हो तुम
सिर्फ फायदे गिनाओगे कि कितनी हितकर है
तुम्हारी योजना
नुकसान का जिक्र न होगा तुम्हारी बातों में
जानती हूं

जानती हूं तुम यह भी छिपाओगे
तुम्हारे इस विकास के मॉडल के पीछे
किसका उर्वर मस्तिष्क काम कर रहा है
छिपाओगे उन विकसित लोगों और देशों के
विकास का राज
कि किस तरह तुम्हारे ही माध्यम से हमारे
संसाधनों को हमसे छीनकर
विकास के उच्च शिखर तक पहुंचे हैं वे
जानती हूं, सब जानती हूं
क्षमा करना
तुम्हारे विकास प्रस्ताव से सहमत नहीं हैं हम
जो पटना, रांची, दिल्ली से बनाकर लाए हो
तुम
हमारे लिए !

तीन ग़ज़लें : **माधव कौशिक**

एक

रास्ते भर रोशनी थी, आप ने देखा नहीं
शाख फूलों से लदी थी, आप ने देखा नहीं।

हड़बड़ी में मर रहे थे इस कदर बेवक्त लोग
वक्त की कितनी कमी थी आप ने देखा नहीं।

रहनुमाओं की सियासत आप समझेंगे कहां
हर तरफ चौसर बिछी थी आप ने देखा नहीं।

हम भी सारी उम्र शहरों में भटक कर मर गये
हर गली अंधी गली थी आप ने देखा नहीं।

आप तो अपने बदन के सीखचों में कैद हैं
लौ दिये की बुझ रही थी आप ने देखा नहीं।

कौन स्याही से कभी सच्ची कहानी लिख सका
खून से हम ने लिखी थी आप ने देखा नहीं!

दो

चौपालों के रंग सुनहरे कहां गये।
हंसी–ठिठोली करते बूढ़े कहां गये।

सन्नाटे की नागफनी है आंखों में
आने वाले कल के सपने कहां गये।

सभी मुखौटे पहने घर से निकले हैं
सोच रहा हूं असली चेहरे कहां गये।

कल तक दिल में धड़कन बन कर रहते थे
प्यार–मुहब्बत के वो किस्से कहां गये।

दूर–दूर तक पसरी है वीरान सुबह
शबनम जैसे सुन्दर लम्हे कहां गये!

तीन

खुशी थी प्यार की आहों में और भी ज्यादा
मजा सफर का था राहों में और भी ज्यादा।

ज़ेहन से जिस्म तक सारे बदन में फैल गई
थकन सफर की थी पांवों में और भी ज्यादा।

शहर में आज की बरसात देख कर भागे
खराब हाल था गांवों में और भी ज्यादा।

कहां तलाश करें अब सकून रस्ते में
चुभन है धूप की छांवों में और भी ज्यादा।

यहां तो खैर निशां ही मिले हैं कुदरत के
खुदा मिलेगा गुनाहों में और भी ज्यादा।

किसी ने दिल को निचोड़ा तो खून के बदले
मिला है पानी शिराओं में और भी ज्यादा।

कुछ अपने आप पर थोड़ा बहुत यकीन करो
असर तो होगा दुआओं में और भी ज्यादा!

दो ग़ज़लें : **आलोक कुमार श्रीवास्तव**

(एक)

बाग पर तितलियों की सनक चल रही
हुस्न इनका है उनकी हनक चल रही

बिल्लियां रास्तों की हैं अगुआ यहां
और कुत्तों की माफिक सड़क चल रही

इस तरफ आग गायब है चूल्हे से तो
उस तरफ पेट में लौ धधक जल रही

हाथ खाली रहें तो भला क्या करें
ठीक है मुट्ठियां जो उधर तन रही

खैरियत और हालत न अब पूछिए
हां, जरा तंग है कुछ कड़क चल रही

अब चलन का भी कुछ कहते बनता नहीं
जिन्दगी केंचुए–सी सरक चल रही!



(दो)

क्या यही चाहते कि तंगी रहे
उम्र भर दर्द ही अपना संगी रहे

हर नया शेर बासी लगेगा तुम्हें
जबकि ग़ज़लों का बाजार मंदी रहे

ये अजूबा नहीं तो भला और क्या
शेर छोटा रहे बहर लंबी रहे

लोग लिखते रहे और सुनाते रहे
चाय क्योंकर रुचे गर वो ठण्डी रहे

ये सियासत का किस्सा नया कुछ नहीं
जिन्दगी बंद शीशी में चंगी रहे।

हरियाली तीज

हरियाणा की सांस्कृतिक पहचान

***सावन का महीना लगते ही गांव के छोटे-छोटे बच्चे, लड़कियां आदि झूला झूलने लग जाते हैं। किंतु तीज वाले दिन तो यह दृश्य देखते ही बनता है। हरियाणा के लोकपर्व तीज की विशेषताओं का परिचय दे रहे हैं* ओमप्रकाश कादयान**

आषाढ़ माह की शीतल हवा 'सावन' के आने का संदेश दे जाती है। वर्षा काल के मासों में से 'सावन' मास अधिक महत्वपूर्ण मस्ती से भरा व खुशहाल होता है। सावन के आते ही वर्षा अपना जोर दिखाती है। बादल राजा अपना शीतल-निर्मल जल बिखेरकर अचेतन-से हुए प्राणियों में नवचेतना भर देते हैं। किसान की फसल झूम उठती है। ग्रामीण बच्चे नंग-धड़ंग छतों पर, गलियों में वर्षा में नहाना शुरू करते हैं यह गीत गाते हुए :

बूंदा-बांदी के करै
ठाडाह् मींह बरसा दे...।

सुजला, सुफला एवं शस्य श्यामला मही तरुणी के समान शोभा देती हुई दिखाई देती है। यौवन के उन्माद से भरी हुई चपल कामनियों की तरह नदियां तीव्रता से तोयनिधि की ओर अग्रसर हो रही हैं। तमोमय निशा में बिजली प्रिय-समागम के लिए उत्सुक अभिसारिकाओं के मार्ग प्रकाशित करती हैं। बादलों से झरती हुई ठण्डी-ठण्डी फुहारें हर ओर मस्ती का आलम बिखेर देती हैं। वनस्पति खिल उठती है। सूखी घास हरी हो उठती है। पेड़ों में स्फूर्ति आ जाती है। बेचैन कीट-पतंगें सुख के गीत गाने लगते हैं। अमुवा की डाली पर बैठी कोयल का मधुर स्वर समस्त वातावरण में गूंज उठता है। मेंढक टरनि लगते हैं। सोन बगुले आनंदपूर्वक बोलते हुए नभ में उड़ते हैं। पपीहे की पीहू-पीहू मौसम को और मादक बनाती है। उमड़ते हुए बादलों को देखकर मोर अपनी इन्द्रधनुषी रंगीन-दिव्य पंखों को फैलाकर झूम-झूमकर नृत्य करते हैं। सूखी पड़ी ताल-तलैया जोहड़ झीलें पानी से लबालब भर जाते हैं। सरोवरों व झीलों में रंग-बिरंगे कमल के फूल व जलकुम्भी के फूल खिल उठते हैं। धरा वनस्पति की हरी चुनरिया ओढ़ लेती है। कवि का मन कह उठता है :

पकड़ वारि की धार झूलता है मेरा मन।
आओ रे सब मिल गाएं सावन मन भावन।।

मादकता से परिपूर्ण सावन माह के शुक्ल तृतीया को अपनी मस्ती लुटाता हुआ 'तीज' का पर्व आता है। विशेषकर पंजाब, हिमाचल, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, हरियाणा व राजस्थान में मनाया जाने वाला यह त्योहार 'हरियाली तीज' के नाम से भी जाना जाता है। हरियाणा को सांस्कृतिक पहचान देने वाले त्योहारों में से 'तीज' पर्व मुख्य है। हरियाणावासी इस त्योहार का बड़ी धूमधाम व हृदय से स्वागत करते हैं। अन्य राज्यों की अपेक्षा हरियाणा की तीज अपनी अलग व विशेष महत्व रखती है।

पुराणों के अनुसार शिव पार्वती का विवाह तीज को ही हुआ था, इसलिए महिलाएं इस त्योहार को विशेष महत्व देती हैं। शिव पार्वती के विवाह की खुशियां प्रकट करने के लिए सावन में महिलाएं झूला झूलती हैं। भगवान शिव से वे अपने सुहाग की मंगल कामना करती हैं। हरियाली तीज के साथ यह प्रसंग भी जुड़ा है कि अजेय दुर्ग लोहागढ़, भरतपुर के संस्थापक महाराजा सूरजमल ने हरियाली तीज पर पठानों द्वारा अपहृत महिलाओं को मुक्त कराया था, इसलिए भी यह पर्व मनाया जाता है।

झूले झूलना इस त्योहार की विशेष परंपरा है। वैसे तो सावन का महीना लगते ही गांव के छोटे-छोटे बच्चे, लड़कियां आदि झूलने लग जाते हैं। किंतु तीज वाले दिन तो यह दृश्य देखते ही बनता है। तीज से दो-तीन दिन पहले पेड़ों पर जहां झूलना होता है, उस के डाहले (टहनी) पर कपड़ा बांधकर जगह का चुनाव कर लेते हैं, ताकि और कोई इस जगह पर न झूले। डाहले पर कपड़ा इसलिए भी बांधा जाता है कि रस्सा कटे नहीं।

तीज वाले दिन सुबह काम-काज निपटा कर ग्रामीण महिलाएं, बहुएं, छोटी-छोटी लड़कियां व युवतियां एकत्रित होकर टोलियों में गीत गाती हुई जोहड़-तालाब के किनारे या शीशम आदि भारी मजबूत टहनियों पर पींग डालकर झूलने का भरपूर आनंद लेती हैं। बारी-बारी सभी को पींग पर बिठाकर झोटे (झोले) दिए जाते हैं। पींग के रस्से पर दोनों ओर डोरी बांध ली जाती है तथा दोनों ओर खड़ी महिलाएं या युवतियां इन रस्सियों को पकड़कर झोटे देती हैं। ये रस्सियां इतनी लंबी होती हैं कि इन्हें आवश्यकतानुसार ढीला किया जा सके। झोटे इतने लंबे देती हैं कि झूलने वाली एक बार आसमान को छूती हैं तो दूसरे पल उसी गति से नीचे आती हैं। डाहला टूटने का डर किसी को नहीं रहता। डाहला मर्ड-मर्ड करने के बाद भी झोटे तब तक जारी रहते हैं जब तक झूलने वाली हार न मान जाए। कई पींगों पर एक साथ टांगों में टांग फंसाकर आमने-सामने मुंह करके दो बहुएं या युवतियां बैठ जाती हैं। बड़ी पींग व मोटे रस्से हों तथा पेड़ का डाहला मजबूत हो तो दो से अधिक महिलाएं भी बैठ जाती हैं। एक पेड़ पर दो या अधिक पींगे डालने पर झोटे देते समय आपस में टकराने का डर भी रहता है। तेजी से झूलने को 'पींग बढ़ाना' भी कहते हैं। मदमस्त अल्हड़ युवतियां पूरे जोर से पींग बढ़ाती हैं। इस समय पींग पर बैठी नवयौवना पींग ऊपर जाते समय पेड़ की पत्तियां तोड़कर ले आती है तो उसे सास की नाक काटना या चुटकी भरना कहा जाता है व खूब हंसी-ठिठोली की जाती है।

लोकगीत इस त्योहार की मुख्य विशेषता है। तीज के दिन हर पेड़ों पर झूले होते हैं। नव यौवनाओं के हृदय के उद्‌गार भाव-विभोर होकर कोमल कण्ठों से गीत बनकर फूट पड़ते हैं। सारा वातावरण लोकगीतों की धुनों से अनुरंजित हो उठता है। पींग के हिलोरों के साथ उनका मन भी हिलोरें लेने लगता है। स्वर में स्वर मिलकर गीत फूट पड़ते हैं :

सातजणी हे मां मेरी झूलणा जी
पड़या पिंजोला हरियल बाग में जी
अस्सी गज का है मां मेरी घाघरा जी
उसमें कली सै तीन सौ साठ जी...।

अल्हड़ युवतियां व बहुएं एक दिन पहले ही हाथ-पैरों में मेंहदी लगा लेती हैं। नये व रंगीन परिधान पहनकर, कोमल कलाइयों को बहुरंगी चूड़ियों से सजाकर तीज वाले दिन झूलने जाती हैं। तरुणियां कई महीने पहले ही तीज त्योहार की प्रतीक्षा करने लगती हैं। जब काली घटाएं छा जाती हैं, धीमी-धीमी फुहारें गिरने लगती हैं तो युवतियां कह उठती हैं :

नान्हीं नान्हीं बुदिंया, मीहा बरसै है जी,
हां जी कहे चारू दिसा पड़ेंगी फुहार,
काहे साम्मण आया सुघड़ सुहावणा,
संग की सहेली मां मेरी झूलती जी,
हमने झूलण का है मां मेरी घणा चाव जी...।

तरुणाई की दहलीज पर खड़ी ग्राम बालाओं को झूलने का अधिक चाव होता है। जब सुन्दर युवती अपनी जवानी के हिचकोलों के वश में मुस्कराती हुई पींग के झूलों में मस्त होती है तो युवकों के दिल उन्हें देखकर मचल जाते हैं। एक रमणी जामुन के पेड़ पर झूल रही है। एक अलबेला उसकी प्रशंसा कर उससे बातें करने का पूरा प्रयास करता है :

झूलण आली बोल बता के बोलण का टोट्टा,
झूलण खातर घल्या करैं से पींग सामण म्हं।
मीठी बोली तेरी सै जणो कोयल जामण म्हं।
तेरे दामण म्हं लिसकार उठै चमक रह्या घाट्टा,
झूलण आली बोल बता के बोलण का टोट्टा।

लरज-लरज कै जावै सै योह् जामण की डाहली,
पड़ के न्याड़ तुड़ा लै तें रोवै तन्नै जामण आली।
तेरे ढुंग्गे पै लटकै काला नाग-सा मोट्टा,
झूलण आली बोल बता के बोलण का टोट्टा।

मोटी-मोटी अंखियां के म्हां डोरा स्याही का,
के के गुण मैं कहूं तेरी इस नरम कलाई का।
चन्दरमा-सा मुखड़ा तेरा जणू नूर का लोटा,
झूलण आली बोल बता के बोलण का टोट्टा।

झूले के लोकगीतों में रोमांच का पर्याप्त पुट मिलता है। जब एक नायिका झूल रही होती है तब बरसात आ जाती है तो उसका प्रेमी भीगने से बचाने की भरकम कोशिश करता है :

मोटी मोटी बुन्दां झूले पै आई
तो गाबरू नै चादर ताणी, हो मन्नै तेरी सोंह
जद वोह् चादर भीजण लागी
तो गाबरू नै छतरी ताणी, हो मन्नै तेरी सोंह
जद वोह् छतरी भीजण लागी
तो गाबरू ने बैल जुड़ाई, हो मन्नै तेरी सोंह
बाजणी सी बैल बिदकणे से नारे...।

एक युवती अधिक सुन्दर है। वह शिकायत करती है कि :

मेरे गोरे बदन पै रंग बरसै,
हेरी बाग्गां म्हे जाऊं तो धोबी ललचै।
मेरे गोरे बदन पै रंग बरसै,
हेरी तालाबां पै जाऊं तो धोबी ललचै।
मेरे गोरे बदन पै रंग बरसै,
हेरी सेज पै जाऊं तां बलमा ललचै।
मेरे गोरे बदन पै रंग बरसै.....।

सावन का महीना मादकता से सरोबार होता है। ठण्डी हवाओं का स्पर्श व ठण्डी-ठण्डी फुहारें अपने साथी की याद दिलाते हैं। जिसका प्रियतम दूर प्रदेश में है उसे अपनी प्रियतमा की बड़ी याद आती है। वह विरह-वेदना में डूब जाती है तथा नणद को खत लिखने को कहती है :

हेरी सखी साम्मण मास घिरण लाग्यो,
नणदी ऐसा खत लिखवा दो मेरे प्रीतम नै बुलवा द्यो।

तीजों वाले दिन अपने पति से मिलने की पूरी आशा होती है। प्रियतम से मधुर मिलन की प्रतीक्षा के बाद भी वे नहीं आते तो विरहणी को बड़ा दुख होता है। वह विरह वेदना में डूब



तीज के अवसर पर झूला झूलने का आनंद ही कुछ अलग है *छायांकन : सर्वेश*

जाती है :

सामण का महीना मेघा रिमझिम-रिमझिम बरसै,
मन नै समझांऊ तो बी बैरी जोबन तरसै,
तीज्यां के दिनां की तो थी आस बड़ी भारी,
ऐसे में बी न आए मैं पड़ी दुखां की मारी।

जब पपीहा बोलता है तो विरहणी को और पीड़ा दे जाता है :

सावन का महीना, मेघा रिमझिम बरसै,
ठण्डी चलै पुर्वइया, बादल अंबर मैं गरजै,
ऐसे में होते सखी, पीया जो म्हारे,
बाट जोह-जोह हार गए नयन कजरारे,
पिया-पिया पुकारै री यो बैरी पपीहा,
मन को तो समझाऊं, पर जोबन बेरी तरसै...।

पत्नी अपने ससुराल में है। उसका पति सेना में है तथा तम्बुओं में रहता है इसलिए यह चिंता खाये जा रही है कि बरसात में मेरे पिया न भीग जाएं। इसलिए वह बादल से वहां न बरस कर हर जगह बरसने का आग्रह करती है :

झुक जाए बादली बरस क्यूं न जाए?
उत मत बरसे ए बादली जित महारा पिया परदेश,
तंबू के भीजे तंबू की रेसम डोर.....।

पति के बिरह में एक विरहणी इतनी व्याकुल हो जाती है कि पति से दूर रहकर जीने से अच्छा है उसे मौत आ जाए :

तीज्यां बड़ा त्योहार सखी, सभी बदल रही बाणा।
जिसका पति परदेश बसै, इसै जीणे तैं मर जाना।

नई नवेली दुल्हन पहली तीज अपने पीहर रहकर खुश होती है, कहते हैं पार्वती ने भी पहली तीज अपने पिता पर्वतराज के घर मनाई थी। तीज पर भाई बहन के घर (ससुराल) उपहार लेकर जाता है जिसको 'कोथली' कहते हैं। कोथली में वस्त्र तथा मीठे पकवान होते हैं। पहले 'सुहाली' का विशेष रिवाज था जो आजकल कम हो गया है। कोथली ले जाने के लिए भाई अपने घरवालों से कहता है (महिलाएं यह गीत गाती हैं) :

मिट्ठी तो कर दे री मां कोथली,
साम्मण जी आया गूंजता।
जाऊंगा री मेरी बेबे कै देण,
साम्मण री आया मां गूंजता।

उधर बहन ससुराल में अपने भाई के आने की बाट जोहती है। वह पींग पर चढ़ी झूलती अवश्य है, किंतु अपने भाई के आने का इंतजार पल-पल करती है। इस समय महिलाएं मिलकर यह भी गाती हैं :

साम्मण मैं बादल छाये, सखियों नै झूले पाये,
आज मेरा बीरा आवैगा, आया तीज्यां का त्योहार,
मेरे मन मैं चाव घणा सै, कै सुंदर समा बण्या सै,
मन्नै कर दिया ईब तैयार, आज मेरा बीरा आवैगा....।

उसे महसूस हो जाता है कि उसका भाई आने वाला है तो वह झूले पर चढ़कर देखती है :

बांगां मैं पपीहा बोल्या, मैं जाणी कोय आवै सै,
झूल्ले-चढ़ कै देक्खण लागी, छोट्टा बीरा आवै सै।

अगर किसी का भाई नहीं होता या सेना में होता है, तीज्या पर आ नहीं पाता तो नाई 'कोथली' ले जाता है। कोथली पहुंचाने में देर कर देता है तो उस समय यह लोकगीत गाया जाता है :

नीमा के निम्बोली लागी, सामनिया कद आवैगा,
मरियों री रूपा नाई, कौथली कद ल्यावैगा....।

अगर कोथली लेकर भाई जाता है तो बहिन की खुशी का पारावार नहीं। अगर विवाहित युवतियां ससुराल की बजाय पहली तीज को अपने पीहर (मायके) में हों तो ससुराल वाले उसके पास भी उपहार भेजते हैं जिसे 'सिंधारा' कहते हैं। झूलने का आनंद हर वर्ग की महिलाएं लेती हैं।

बादशाह परिवारों में तो यह परंपरा और अधिक प्रचलित रही है। यूनानी साहित्यकारों के अनुसार प्रेम की देवी वीनस वर्षा के मौसम में अपनी सहेलियों के साथ जी भरकर भीगा करती तथा ठण्डी-ठण्डी फुहारों में झूलने का आनंद लेती थी। सम्राट अशोक को सावन-झूले से विशेष लगाव था। बादशाह अकबर अपने बगीचे में सोने की जंजीर वाले झूले पर हर वर्ष सावन माह में नर्तकियों के संग झूलता था। इसके साथ ही उसके पूरे राज्य में झूले पड़ जाते थे। राजस्थान में भी अधिक राजाओं ने अपने उपवनों में झूले डाल रखे थे। वहां वे स्वयं तथा राजकुमारियां, रानियां व अन्य महिलाएं झूला करती थीं।

तीज झूलने का ही नहीं पकवानों का भी त्योहार है। इस दिन घर-घर सुहाली, पूड़े, गुलगुले, शक्कर पारे, मट्ठी, पकौड़े आदि पकवान बनते हैं। गांवों के पूरे वातावरण में इनकी महक फैल जाती है। वर्षाकाल में ये सभी पकवान खाने में बड़े स्वादिष्ट लगते हैं। गांव में औरतें चाहे अनपढ़ ही क्यों न हों किंतु उनको पकवानों के मौसम व बनाने का पूरा ज्ञान होता है। कौन से पकवान किस मौसम में अच्छे लगते हैं, इस बात से भली-भांति परिचित होती हैं।

हरियाणा के बहुत से हिस्सों में इस दिन खूब पंतगबाजी भी की जाती है। बच्चे-जवान टोलियों में एकचित्र होकर पतंग उड़ाते हैं तथा पेंच-पेंच लड़ाते हैं। विपक्ष का पतंग कटने पर खूब तालियां पीटते हैं, शोर करते हुए खुशियां जाहिर करते हैं। रोहतक व झज्जर जिले में इस दिन खूब पंतगबाजी की जाती है। पतंग उड़ाने या छत पर बैठकर पकवान खाने में अलग ही मजा होता है। गांव में तीज पर जगह-जगह दंगल होते हैं कुश्तियां लड़ी जाती हैं। कहीं-कहीं लोकगीतों के साथ रागनियों का आयोजन किया जाता है। मंदिरों में रामलीला पर आधारित झांकियां निकाली जाती हैं। ये झांकियां तीज वाले दिन शुरू होकर आगामी 9-10 दिन तक चलती हैं। तीज का दिन बड़ा हर्षोल्लास भरा होता है, इसकी एक कहावत भी बन गई है। जब अधिक हंसी-खुशी व मस्ती के दिन चल रहे हों तो किसी अन्य के हाल-चाल पूछने पर यह कह देते हैं कि 'तीज्यां बरगे दिन कटरे सै।' तीज त्योहार अपने साथ ढेर सारे और त्योहार भी लाता है। तीजों के बाद त्योहारों की बौछार हो जाती है। इस संबंध में एक लोकोक्ति भी है- *आई तीज बिखेरगी बीज* ।

वैसे तो तीज ही नहीं बल्कि सारा 'सावन' ही मस्ती व श्रद्धा का महीना है। सावन में कई त्योहार आते हैं। सावन में ही भाई-बहन के अटूट प्रेम का प्रतीक रक्षा-बंधन का त्योहार आता है। नागपंचमी का पर्व आता है। कावड़ लिए शिव भक्तों की कतार की कतारें दिखाई देती हैं। शिवरात्रि पर शिव-पूजा की जाती है, परंतु चिंता की एक बात अवश्य है कि टेलीविजन के प्रभाव व बढ़ते हुए भौतिकवाद से तीज पर्व मनाने के सभी मायने परिवर्तित होते जा रहे हैं। जोहड़, सरोवरों के किनारे व बगीचे में वृक्षों की संख्या भी काफी कम हो गई है। झूलते समय लोकगीत गाने की परंपरा में भी कमी आई है। □

अनमनी अनन्या

पाल भसीन

रेखांकन : संजीव शाश्वती



अनन्या अक्सर अनमनी-सी क्यों हो उठती है- उसे खुद भी पता नहीं।

रौशनदान पर सजे अपने घोंसले से शायद चिरौटा अभी-अभी बाहर की ओर उड़ा है। पिछवाड़े के अमलतास पर से उतर कर एक नन्ही गिलहरी लगभग हर रोज आ जाती है। उसकी पारे-सी चंचलता अनन्या को पसंद है। वह न आती तो गर्मी की छुट्टियों के ये उबा देने वाले लंबे दिन जी का जंजाल न हो गए होते!

पिछवाड़े के अमलतास पर से उतर कर वह नन्ही गिलहरी सामने बरामदे में बैठी इस वक्त भी इत्मीनान से कुछ कुतरने में मगन है।

पहले अनन्या खुद भी ऐसी ही थी। हर वक्त गिलहरी-सी उछलती-कूदती। चबर-चबर बोलती-बतियाती। हर कोई उसके नाज़ उठाता। दादा-दादी की दुलारी, अम्मा की प्यारी और डैडी की लाडली। चाचा तो जैसे गोद से कभी उतारना ही न चाहते। अब तो लगता है, जैसे ये सदियों पहले की बातें हैं। वक्त इत्ती जल्दी गुज़र जाता है- तब क्या पता था?

'हाय! क्या दिन थे!' मन में यह अहसास गहराई तक समा गया और नवल किशोरी अनन्या के होंठों पर एक नामालूम-सी स्मित-रेखा उभरी। उसके अंडाकार चेहेर पर सजे नन्ही सीपियों से नयनों में अनंत सागर का आह्लाद मानो लहर बनकर तैर गया। और किनारे से टकरा कर लौटती हुई वह लहर उसके पूरे वजूद को अपने साथ बहाकर ले गई।...

कितना अच्छा था वह स्कूल, जहां आज से दो बरस पहले तक वह पढ़ती थी। वहां, गुरुजन कितनी गहराई से उसकी खूबियों को पहचानने लगे थे। मॉर्निंग असेंबली में प्राय: प्रतिदिन किसी-न-किसी उपलब्धि के लिए उसके नाम की घोषणा होती।

गुरुजन रीझते, मित्र सराहते, ईर्ष्यालुओं के कलेजों पर सांप लोटते और बलैयां लेती दादी। दादा जी हुक्का गुड़गुड़ाना बंद कर कुछ इस तरह अवाक् होकर उसे निहारते मानो वह किसी दूसरे लोक की प्राणी हो। मां का मन होता कि राई-नोन उतार दे। और लहीम-शहीम डैडी की लंबी-मजबूत बाँहों का घेरा उस पर ज़रा और कस जाता।

सड़क पर खड़े बकायन के ठूंठ से उभरे किसी कौवे के कर्कश स्वर से भयभीत गिलहरी फुदकती हुई अमलतास के फूलों-पत्तियों में जा छिपी और अनन्या फिर से अनमनी हो आई।

- 'इस मरे कौवे को भी अभी चिल्लाना था। बेचारी गिलहरी को भगा दिया बेकार में।' अनन्या बुदबुदाई। उसकी खीझ को कोई लक्ष्य नहीं कर पाया। और जेठ महीने के तीसरे पहर में- जब घर में मौजूद अन्य सभी नींद में गाफ़िल थे- अनन्या का अनमनापन और-और गहराने लगा। वह उठकर द्वार तक गई और एक ढेला उठाकर कौवे पर चला दिया। कौवा फुर्र से उड़ा और अनन्या के मौजूदा स्कूल की इमारत की ओर लपका।

'मौजूदा स्कूल!' अनन्या ने मुंह बिचकाया।

माना कि इमारत बड़ी खूबसूरत है, बड़ी है, पर...। यहां सभी को लगता है कि मैं ही दुलमुल हूं, सुस्त हूं, जाने कहां खोई रहती हूं, मैथ्स में जीरो हूं- वग़ैर-वग़ैर।...पर यहां के बदतमीज़ छोकरों को कोई कुछ क्यों नहीं कहता? सिरफिरी छोकरियों को भी क्यों नहीं समझाता? सब के लिए बस एक मैं ही बुरी हो गई। सच, बड़ी घिन होती है कभी-कभी। मेरे रुग्ण दादा जी के स्वास्थ्य के बारे तो किसी ने कभी नहीं पूछा। किसी को भी नहीं पता कि चाचू की सर्विस जाती रही। कई महीनों से वे घर पर बैठे हैं। डैडी की ख़ामोशी दिन-ब-दिन गहराती जा रही है- कोई नहीं जानता। मां, रह-रहकर अकारण झुंझला उठती हैं। घर के काम-काज का अतिरिक्त दबाव और आर्थिक संकोच! नौकरी भी कोई सड़क पर तो नहीं रखी कि जाओ और उठा लाओ ताकि डैडी को मदद मिल सके।...

लू के एक तीखे झकोरे ने अनन्या को झकझोर दिया।

...कहां खो गई मेरी प्रतिभा, मेरी लेखन-कला, मेरी भाषण-कुशलता, मेरी...! कोई अनुभवी आंख मेरे मन का एक्सरे-चित्र क्यों नहीं ले पा रही, मेरे अंतर्द्वंद्व को कोई समझ क्यों नहीं रहा? साथियों को, गुरुजन को मुझसे बस शिकायत ही शिकायत है। मेरी घुटन से जैसे किसी को कोई सरोकार ही नहीं।...तो, क्यों मानूं मैं भी उनका

...कहां खो गई मेरी प्रतिभा, मेरी लेखन-कला, मेरी भाषण-कुशलता, मेरी ... ! कोई अनुभवी आंख मेरे मन का एक्सरे-चित्र क्यों नहीं ले पा रही, मेरे अंतर्द्वंद्व को कोई समझ क्यों नहीं रहा? साथियों को, गुरुजन को मुझ से बस शिकायत ही शिकायत है / मेरी घुटन से जैसे किसी को कोई सरोकार ही नहीं /...

कहा? हां, नहीं करूंगी किसी का भी दिया कोई होमवर्क!...

अनन्या ने एक दीर्घ निःश्वास ली। तभी चौथे पहर के सूरज को किसी भटकती हुई छोटी-सी बदली ने अचानक आ घेरा। तपिश पर अल्पविराम लग गया। सोच ने करवट बदली। हवा के हल्के झोंके पर सवार अमलतास के फूलों की महक से मन-प्राण जुड़ा गए। भीतर से एक सवाल कौंधा।

'परेश सर का दिया होमवर्क भी नहीं करोगी अनन्या? क्यों भला?'

'हां-हां! मालूम है मेरे को! अपना ज्ञान मत बघार।' -पता नहीं अपनी बुदबुदाहट में अनन्या ने किसे उत्तर दिया! पर साथ ही वह खुद भी संकुचित हो आई। सचमुच, परेश सर ने ही यहां पहले पहल यह खोज की थी कि अनन्या गूंगी नहीं।

फिर तो उसकी सोच को मानो तितली के पर लग गए।

नोटबुक को क्रूरता की हद तक लाल रोशनाई से रंग देना जरूर बुरी बात है, पर सभी के साथ तो ऐसा नहीं करते वे! पता नहीं क्यों! लेकिन एक बात जरूर है कि मेरे लेखन में जाने क्या कुछ रेखांकित कर तारीफ भी करते हैं। मौखिक ही नहीं, लिखित रूप में भी- ताकि सनद रहे। उनका दिया होमवर्क भी अगर नहीं करूंगी तो...बाप रे! ज्वालामुखी कभी फटा बेशक नहीं, पर उसका भीतर ही भीतर सुलगते रहना क्या कुछ कम खतरनाक होता है! उनकी नाराजगी प्रयत्नपूर्वक भींची गई पलकों के पीछे से खिसकती हुई माथे की त्यौरियों में तब्दील हो जाती है। लगता है, जैसे खुद को ही दंडित कर रहे हों।...उनका रूठना तो पूरी कक्षा में कोई भी नहीं झेल पाता बाबा!....

'अन्नू!...'

करवट बदलते हुए मां ने जैसे बड़ी दूर से आवाज दी- 'एक गिलास पानी तो पिला बेटी।'

अनन्या ने सहज होने की कोशिश की। सांझ हो चली है। अब एक-एक कर सब जगेंगे। दादा जी-दादी मां चाय की तलब पूरी करेंगे। भैया दूध का गिलास गड़प कर मुहल्ले की क्रिकेट टीम को ताकत देने रवाना हो जाएगा। मां को नींबू-पानी चाहिए। फिर वे रसोईघर में जूझने को कमर कसते हुए बार-बार उसी को मदद के लिए पुकारेंगी...।

अनमनेपन में ही पानी का गिलास लाकर मां के हाथ में थमाते हुए अनन्या ने सोचा कि सिर्फ उसी को नींद क्यों नहीं आती दुपहर भर।

वाह! क्या कमाल हो गया! अमलतास के फूलों-पत्तों में जा दुबकी गिलहरी इस बार ठीक उसके पैरों के पास आ बैठी। जरा भी नहीं डरी। उसकी रोएंदार दुम लगातार थिरक रही थी। अनन्या को भला-सा लगा।

तभी पानी पीकर गिलास उसे थमाते हुए मां ने कोमल स्वर में जैसे आदेश दिया :

'जा, जरा चाय का पानी चढ़ा दे और भैया के लिए....'

अनन्या गिलहरी की थिरकती दुम की तरह चंचल हो आई। समूचे अनमनेपन के बावजूद वह मन ही मन उसी गिलहरी के साथ उछलती-कूदती हुई पिछवाड़े के अमलतास की पत्तियों-फूलों में जा दुबकी। प्रकट में सिर्फ इतना कह पाई :

'मम्मी, प्लीज! परेश सर ने जो होमवर्क दे रखा है, उसे पूरा कर लेने दो न। अब दिन ही कितने बचे हैं।'

और कहने के साथ ही उसकी अनमनी स्वप्निल आंखों में परेश सर की उन धुंधली पनीली आंखों की छवि साफ उभर आई जिनमें उस के भविष्य का कोई उजला सपना लहरों पर इतराती चली आती पालदार नौका-सा लगातार निकट से निकटतर होता नजर आता है। □

भारतीय सिनेमा के जनक

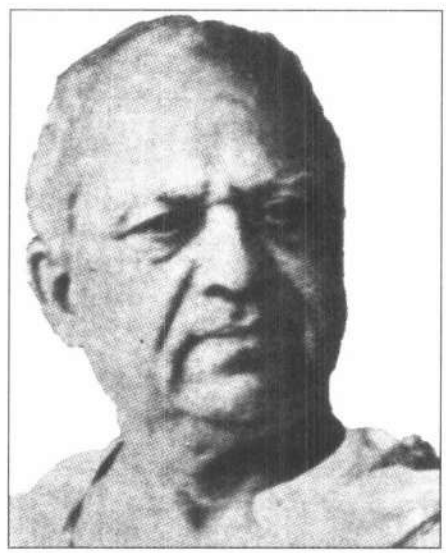
दादा साहेब फालके

बीस फीचर फिल्में और 97 लघु फिल्में बनाने वाले दादा साहेब फालके की जमा पूंजी में टका भी न था, इसलिए उन्हें आजीविका अर्जित करने के लिए निर्देशक के रूप में पुनः फिल्म उद्योग से जुड़ना पड़ा / चौंसठ वर्ष की आयु में उन्होंने कोल्हापुर सिनेटोन के लिए हिन्दी और मराठी में धार्मिक फिल्म 'गंगावतरण' बनाई / निर्देशक के रूप में उनकी यह पहली सवाक फिल्म थी और उनकी अंतिम फिल्म भी / भारतीय सिनेमा के पितामह दादा साहेब फालके के कृतित्व का परिचय दे रहे हैं **नवीन जोशी**

"मैं उन सब कलाओं में पारंगत था जिनसे चलचित्र बनाया जा सकता था, जैसे चित्रकारी, वास्तुकला, फोटोग्राफी, रंगमंच, जादू। मुझे पूर्ण विश्वास था कि यह काम (यानी फिल्म बनाना) संभव था...।"

यह कथन है धुंडीराज गोविंद फालके का जिन्हें भारतीय सिनेमा का जनक माना जाता है और इनके ही सम्मान में भारत सरकार ने 1969 में, जो इनका जन्म शताब्दी वर्ष था दादा साहेब फालके पुरस्कार की घोषणा की थी। आस्कर पुरस्कारों के समान समझा जाने वाला यह पुरस्कार प्रति वर्ष किसी महान फिल्मी हस्ती को भारतीय सिनेमा के विकास में असाधारण योगदान के लिए प्रदान किया जाता है।

सिनेमा का जन्म 1895 के अंत में फ्रांस में हुआ, 1896 के मध्य में इसका भारत आगमन हुआ और उसके बाद कुछ वर्षों में यह वृत्तचित्रों और न्यूजरीलों के रूप में समूचे देश में फैल गया। इस अनूठी और अद्‌भुत क्रांति में सबसे महत्वपूर्ण योगदान दादा साहेब फालके का रहा जिन्होंने 1913 में भारत की सर्वप्रथम पूर्णत: स्वदेश में निर्मित मूक फीचर फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' को परदे पर उतारा। उन्होंने इसकी पटकथा, निर्माण, निर्देशन, संपादन किया और साथ ही इसमें अभिनय भी किया। हालांकि 1500 फुट लंबी तोरणे की फिल्म 'पुंडलिक', जो एक मराठी रंगमंचीय प्रस्तुति के प्रसंग पर आधारित थी, 18 मई 1912 को यानी 'राजा हरिश्चंद्र' से एक वर्ष पूर्व प्रदर्शित हुई लेकिन फालके की फिल्म वास्तव में पहली पूर्णत: स्वदेशी फिल्म थी जिसे तब व्याप्त देशभक्ति भाव के अनुरूप प्रदर्शित किया गया और सराहा गया था। इस फिल्म का प्रचार भारत में बनी प्रथम फिल्म के रूप में हुआ था और यह कलात्मक और व्यावसायिक दोनों तरह से बेहद सफल फिल्म रही जबकि 'पुंडलिक' दर्शकों को अधिक संख्या में नहीं खींच पाई और न ही इसे व्यावसायिक रूप से कोई अधिक लाभ हुआ।



फालके का जन्म 30 अप्रैल 1870 को महाराष्ट्र में त्रियाम्बकेश्वर नामक स्थान में हुआ था। संस्कृत के महान विद्वान दाजी फालके के पुत्र ने अपने जीवन के आरंभिक काल में ही चित्रकारी, फोटोग्राफी, रंगमंच और जादू जैसी कलाएं सीख ली थीं। जब उनके पिता मुंबई कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर बने तब फालके ने प्रसिद्ध जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट में अध्ययन आरंभ किया। बाद में उन्होंने कला भवन, बड़ोदरा में वास्तुशिल्प व ढलाई में प्रशिक्षण हासिल किया साथ ही उन्होंने अपने मनपसंद शौक यानी 1890 में खरीदे कैमरे से फोटोग्राफी करना जारी रखा। उन्होंने ड्रामा कंपनियों के इश्तेहार बनाए और नक्शानवीसी भी की लेकिन उन्हें जिसकी चाह थी वह उन्हें तब नहीं मिली।

फालके के भाग्य को तब एक निर्णायक मोड़ मिला जब 1910 की क्रिसमस के दौरान उन्हें मुंबई के एक थियेटर में यीशु के जीवन पर बनी फिल्म देखने को मिली। उस फिल्म से प्रभावित और प्रेरित होकर उन्होंने भगवान कृष्ण के जीवन पर उसी प्रकार की फिल्म बनाने का इरादा किया। हालांकि उनके परिवार के अन्य सदस्यों ने उन्हें रजतपट की इस कला से दूर ही रहने के लिए कहा लेकिन उनकी पत्नी सरस्वती 'काकी' फालके ने उनके इस स्वप्न को साकार करने में पूरा साथ निभाया।

1912 के आरंभ में अपनी बीमा पालिसी पर ऋण लेकर और अपने फायनेंसर को खुद बनाई एक लघु फिल्म 'ए बर्थ ऑफ ए पी-पॉड' दिखाकर फालके लंदन गए जहां एक बार फिर सुखद संयोगवश प्रख्यात फिल्मकार सेसिल हेपवर्थ ने उन्हें न केवल फिल्म निर्माण पर कुछ अमूल्य परामर्श दिया बल्कि उन्हें अपने उपकरणों से सज्जित स्टूडियो, जो ट्रिक फोटोग्राफी के लिए प्रसिद्ध था, के विभिन्न विभागों की भी जानकारी दी। उस दौरान फालके ने *एबीसी ऑफ सिनेमेटोग्राफी* नामक पुस्तक भी पढ़ी।

बेहतर जानकारी और उन्नत उपकरणों से लैस फालके मुंबई लौटे और एक बार फिर एक फाइनेंसर को अपने परिवार की घरेलू वातावरण में फिल्माई फिल्म को दिखाकर उससे ऋण लिया। चूंकि भगवान कृष्ण के जीवन पर फिल्म बनाने के लिए प्रचुर धनराशि और विस्तृत तैयारियों की आवश्यकता थी इसलिए उन्होंने पहले राजा हरिश्चंद्र की कथा पर फिल्म बनाने को चुना जिसमें वह संगीत, जादू, रेखा चित्रण, चित्रकारी, रूपांकन और लेखन की प्रतिभा का प्रयोग कर पाए। परंतु इस फिल्म में वह किसी महिला अभिनेत्री को भूमिका में नहीं ले पाए। एक तो उस समय पारसी रंगमंचीय परंपराओं के अनुरूप केवल पुरुष ही महिला वेषभूषा में महिला की भूमिका अदा करते थे और दूसरा, उस समय समाज में कुलीन परिवारों की युवतियों के रंगमंच पर अभिनय करने पर सामाजिक प्रतिबंध था।

'राजा हरिश्चन्द्र' पहली भारतीय फिल्म क्यों!

'राजा हरिश्चंद्र' भारत की पहली कथा फिल्म है। यद्यपि इतिहास की दृष्टि से आर.जी. तोरणे की फिल्म 'भक्त पुंडलिक' का प्रदर्शन पहले हुआ था। 'भक्त पुंडलिक' 18 मई 1912 को दिखाई गई थी जबकि 'राजा हरिश्चंद्र' का प्रदर्शन 3 मई 1913 को हुआ। बाद में प्रदर्शित होने वाली फिल्म को पहली कथा फिल्म क्यों माना गया। दरअसल उन दिनों भारत में विदेशी फिल्में ही दिखाई जाती थीं। एक विदेशी फिल्म 'ए डेड मैन्स चाइल्ड' के साथ पहली बार भारतीय फिल्म 'भक्त पुंडलिक' दिखाई गई थी। वास्तव में 'भक्त पुंडलिक' अपने आप में स्वतंत्र फिल्म नहीं थी बल्कि एक नाटक का फिल्मांकन था। इसका कैमरामैन भी विदेशी था।

इसके विपरीत 'राजा हरिश्चन्द्र' सम्पूर्ण रूप से भारतीय फीचर फिल्म थी। इसका कथानक, इसके कलाकार, तकनीशियन और लोकेशन भारतीय थे।

भाग्य ने एक बार फिर फालके का साथ दिया जब उन्होंने एक रेस्तरां में रसोइये के सहायक सालुंके को देखा। वह गौर वर्ण का छरहरा महिला समान सुकुमार युवक था। सालुंके ने राजा 'हरिश्चंद्र' में तारामती की भूमिका अदा की जबकि फालके स्वयं राजा हरिश्चंद्र बने। सालुंके ने फालके की अनेक फिल्मों में मुख्य अभिनेत्री की भूमिका निभाई। फालके की एक फिल्म में तो सालुंके ने राम और सीता, दोनों की भूमिका अदा की और इस प्रकार वह उस फिल्म में नायक और नायिका दोनों ही बना।

फालके ने इस फिल्म के निर्माण के साथ जुड़े अनेक कार्य किए जैसे सेट लगाना, दृश्य लेखन, फिल्म को धोने व संपादन आदि। पूरी होने के बाद 'राजा हरिश्चंद्र' नाम की यह फिल्म 3700 फुट लंबी थी और इसकी चार रीलें थी। इसमें नैतिक उपदेशों, उत्तेजनापूर्ण भावों और ट्रिक इफेक्ट्स का अनूठा संगम था। 3 मई 1913 को यह फिल्म मुंबई के कोरोनेशन थियेटर में प्रदर्शित हुई। छह महीने की कठिन साधना के बाद तैयार इस फिल्म को देखने के लिए तेइस दिन तक लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी थी जो उन दिनों एक विरली बात थी। फालके का तीर निशाने पर जा लगा था। उन्होंने अपने दर्शकों को पहचान लिया था। इस फिल्म की अपार सफलता के बाद फालके अपनी पत्नी और बच्चों के साथ नासिक चले आए और एक स्टूडियो की स्थापना की। यहां समूचा परिवार पूरी तरह से फिल्म निर्माण के कार्य में लग गया। फालके ने यहां 'मोहिनी भस्मासुर' (1913) और 'सत्यवान सावित्री' (1914) बनाई।

दर्शकों को लुभाने का फालके का नायाब तरीका

दादा साहेब फालके ने अपनी फिल्म 'राजा हरिश्चन्द्र' को देखने के लिए गांव के दर्शकों को लुभाने का एक नायाब तरीका निकाला। अपनी फिल्म को लेकर जब वे एक गांव में पहुंचे तो बहुत कम लोग फिल्म देखने आए। दादा ने मैनेजर से पूछा, क्या बात है? मैनेजर ने जवाब दिया, इस गांव के लोग लम्बे नाटक देखने के आदी हैं। दो आने के टिकट में साढ़े छह घंटे लम्बा नाटक! आपकी फिल्म तो डेढ़ घंटे में खत्म हो जाती है।

दूसरे दिन दादा ने गांव में प्रचार करा दिया–

'राजा हरिश्चन्द्र' में देखिए सतावन हजार फोटो। दो मील लम्बी फिल्म, सिर्फ तीन आने में।'

दर्शकों को यह बात राष्ट्रीय सम्मान जैसी महसूस हुई और वे उमड़ पड़े सिनेमाघर की ओर।

1914 में फालके ने एक बार फिर इंग्लैंड की यात्रा की और अपने साथ अपनी कुछ फिल्में भी ले गए। हालांकि उनकी फिल्में अंग्रेजी प्रेस को कुछ विचित्र लगीं लेकिन वे उनकी फिल्मों की तकनीकी उत्कृष्टता से बेहद प्रभावित हुए। लंदन के कुछ स्टूडियो मालिकों ने उनके सामने वहां फिल्में बनाने का प्रस्ताव रखा लेकिन फालके को यह स्वीकार नहीं था। उन्होंने बिजली से चलने वाली फिल्मों के निर्माण से संबंधित कुछ मशीनों का आर्डर दिया और स्वदेश लौट आए।

प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने के बाद फालके एक बार फिर आर्थिक संकट से घिर गए। उन्हें वित्तीय सहायता देने वालों ने इस उद्योग में पूंजी लगाने से स्पष्ट इंकार कर दिया क्योंकि इसमें विदेशों से आयातित सामग्री और मशीनों का इस्तेमाल होता था और युद्ध के समस्त यूरोपीय महाद्वीप में फैलने की संभावना के कारण इस उद्योग के पूरी तरह से ठप होने की आशंका बढ़ गई थी। फालके किसी प्रकार अपने स्टूडियो को चलाते रहे, उनका बजट मामूली होता था, उनके कर्मचारी आधे वेतन पर काम करते थे। फालके ने अपनी पुत्री मंदाकिनी को 'कालिया मर्दन' में कृष्ण की भूमिका में उतारा। स्वयं उनकी पत्नी काकी फालके 'लाइफ ऑफ श्रीयाल' में एक भूमिका के लिए आगे आईं। उनकी शर्त केवल यही थी कि स्वयं फालके उसके नायक हों और फिल्म के प्रचार में उनका नाम शामिल न हो। काकी फालके, जो अपने पति पर गहराए आर्थिक संकट के समय न केवल समस्त यूनिट के लिए भोजन तैयार करती थीं बल्कि बाद में वहीं रसोईघर में फिल्म प्रॉसेस करने में भी मदद करती थीं, जानती थीं कि जब एक एनीमेशन फिल्म में उनके पति माचिस की तीलियों से भी अभिनय करवा सकते थे तो वह उन्हें भी अभिनय सिखा सकते थे। ऐसी निष्ठा और सहायता के बल पर फालके



पहली भारतीय फिल्म 'राजा हरिश्चन्द्र' का एक दृश्य

युद्ध काल के दौरान फिल्म बनाते चले गए। उन्होंने एनीमेशन फिल्में, यात्रा-वृत्तांत फिल्में, वृत्तचित्र और एक छोटी शिक्षाप्रद फिल्म 'हाउ फिल्म्स आर मेड' भी बनाई। उन्होंने फिल्म निर्माण से जुड़ी विधाओं पर दर्शकों की जानकारी बढ़ाने के लिए लेखों की शृंखला लिखी। 'द मैजिक ऑफ प्रो. केलफा' (प्रो. केलफा का जादू) नामक फिल्म में फालके ने स्पेशल इफेक्ट्स में अपनी महारत को प्रदर्शित किया। इस फिल्म का नाम उन्होंने अपने नाम 'फालके' का उल्टा कर 'केलफा' रखा था।

उस दौरान बनाई 'लंका दहन' नामक उनकी फिल्म को बाक्स ऑफिस पर अपार सफलता मिली। इसकी सफलता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि इससे अर्जित धनराशि को पुलिस के संरक्षण में बैलगाड़ियों में भरकर ले जाया जाता था। चिल्लर के रूप में मिलने वाले सिक्कों को बोरों में भरा जाता था और उन्हें बैलगाड़ी से ढोकर फालके के घर तक पहुंचाया जाता था। इस फिल्म से फालके एक बार फिर से लोकप्रियता के शिखर पर पहुंच गए थे। 1917 में 'फालके फिल्म्स' का हिन्दुस्तान फिल्म कंपनी में विलय हो गया।

हिन्दुस्तान फिल्म कंपनी के बैनर तले बनाई गई प्रथम फिल्म 'श्रीकृष्ण जन्म' थी। यह फिल्म भी बाक्स ऑफिस पर बेहद सफल रही लेकिन फिर अपने व्यावसायिक सहयोगियों द्वारा अनेक आर्थिक अड़चनें डालने के कारण फालके क्षुब्ध हो गए और कुछ समय तक हिन्दुस्तान फिल्म कंपनी से अलग होकर बनारस चले गए जहां उन्होंने एक नाटक लिखा और उसकी प्रस्तुति भी की। 1922 में हिन्दुस्तान फिल्म कंपनी में लौटने पर उन्हें फिल्मोद्योग का स्वरूप एकदम बदला हुआ मिला- नई फिल्म निर्माण कंपनियां- मदान, कोहिनूर, महाराष्ट्र-बम्बई और कलकत्ता में खुल चुकी थीं। नई पीढ़ी के फिल्मकार नए-नए सामाजिक और ऐतिहासिक विषयों पर फिल्में बनाने लग गए थे। डगलस फेयरबेंक की स्टंट फिल्मों की घटिया नकलें लोगों को बहुत भा रही थीं। फालके ने स्वयं को इस युग में पिछड़ता हुआ पाया।

उनकी आखिरी मूक फिल्म 'सेतुबंधन' (1932) थी जिसमें उनको आर्देशिर ईरानी की 1931 में प्रदर्शित सवाक फिल्म 'आलमआरा' के बाद सवाक फिल्मों के चलन के कारण आवाज डालनी पड़ी थी।

बीस फीचर फिल्में और 97 लघु फिल्में बनाने वाले फालके की जमा पूंजी में टका भी न था इसलिए उन्हें आजीविका अर्जित करने के लिए निर्देशक के रूप में पुन: फिल्म उद्योग से जुड़ना पड़ा। 64 वर्ष की आयु में फालके ने कोल्हापुर सिनेटोन के लिए हिन्दी व मराठी में धार्मिक फिल्म 'गंगावतरण' बनाई। निर्देशक के रूप में उनकी यह पहली सवाक फिल्म थी और साथ ही उनकी बनाई अंतिम फिल्म।

फालके ने बदलते युग की पदचापों को बूझ लिया था। इसलिए बेवजह फिल्म निर्माण में बने रहने की बजाय अपने बिगड़ते स्वास्थ्य के साथ उन्होंने फिल्म जगत को अलविदा कह दिया। धीरे-धीरे उनका नाम और पहचान गुम होती गई और 16 फरवरी, 1944 को नासिक में उनका देहान्त हो गया। इस बहुप्रतिभाशाली, सृजनात्मक विद्वान ने, जिसने अकेले और अत्यंत कलात्मक रूप से भारतीय सिनेमा की नींव रखी, अपने जीवन के आखिरी वर्ष गरीबी और गुमनामी में बिताए, केवल अपने आरंभिक दिनों की स्मृतियों के सहारे। निधन से कुछ वर्ष पूर्व दादा साहेब फालके ने लिखा था:

"यदि मुझमें फिल्म निर्माण के लिए कलात्मक और तकनीकी प्रतिभा न होती और यदि मुझमें साहस और कुछ कर दिखाने की लगन न होती तो भारत में 1912 में फिल्म उद्योग की स्थापना न हुई होती।" □

जब गांधीजी फिल्म के नायक बने

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के महानायक महात्मा गांधी एक फिल्म 'विदेशी वस्त्रों की होली' में नायक बने थे। यह फिल्म जुलाई 1921 में प्रदर्शित की गई थी। इसका निर्माण लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की प्रथम पुण्यतिथि पर उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए किया गया था। इस फिल्म में तिलक की अंतिम यात्रा के समय दी गई श्रद्धांजलि तो थी ही, इसका विशेष आकर्षण विदेशी वस्त्रों की होली था, जिसका नेतृत्व गांधीजी ने किया। इस फिल्म में हर घटना का बड़ी बारीकी से प्रदर्शन किया गया था- जैसे विदेशी वस्त्रों को जमा करना, मालवीय जी, गांधीजी, सरोजिनी नायडू का रामबाग स्थित खादी प्रदर्शनी पर एकत्रित होना। एलफिंस्टन कॉलेज के निकट मैदान की ओर इन सभी लोगों का बढ़ना और गांधीजी का विदेशी कपड़ों के ढेर में आग लगाना तथा जनता द्वारा जय-जयकार करना। यह फिल्म पुणे में दो सप्ताह तक चली। मगर इसके बनाने वाले कौन थे, यह पता नहीं चला।

सिनेमा के एक सौ दस वर्षों का सफर

हिंदुस्तान में सिनेमा ने काफी लंबे संघर्ष के पश्चात ठीक से चलना, फिरना और बोलना शुरू किया / जिसके बाद नई ऊंचाइयों, नई उपलब्धियों, नये मुकामों और नये प्रयोगों का सिलसिला चल पड़ा / आज सिनेमा स्पेशल इफेक्ट्स और डिजिटल युग में प्रवेश कर चुका है / सिनेमा के पर्दे पर कोई भी करतब दिखाना मुश्किल नहीं रहा / भारतीय सिनेमा के एक सौ दस वर्षों के लंबे संघर्ष और उपलब्धियों का आकलन कर रहे हैं **संजीव श्रीवास्तव**

भारत में सिनेमा का इतिहास अब एक सौ दस वर्ष का हो गया है। सात जुलाई 1896 में जब मुंबई के वाटसन होटल में फ्रांस निवासी ल्यूमियर बंधुओं (आगस्ट और लुई) ने अपने छायाचित्रों का प्रदर्शन किया था, तब सिनेमा के जन्मदाताओं को ये अनुमान लगाना मुश्किल रहा होगा कि फिल्में ऐसे युग में भी प्रवेश कर जाएंगी जिसमें पर्दे पर मनुष्य को हवा में ऊंची छलांग लगाते हुए दिखाया जाएगा और पलक झपकते ही मकड़ी मनुष्य बन जाएगी और मनुष्य मकड़ी। करोड़ों साल पहले लुप्त हो चुका डायनासोर एक बार फिर बसे बसाये आधुनिक शहर को तहस-नहस कर देगा। क्योंकि तब हॉलीवुड भी अपने शैशवकाल में ही था।

मुंबई में जब ल्यूमियर ने अपने छायाचित्रों को प्रदर्शित किया था, तब के दर्शकों के लिए यह किसी अजूबे से कम न था। क्योंकि लोगों ने पहली बार इन चित्रों को गतिशील शैली में देखा था। ये दृश्य थे- रेलगाड़ी का चलना, समुद्र में स्नान करना, दीवार का ढहना, बच्चों का नाश्ता करना, फैक्ट्री से मजदूरों का बाहर निकलना इत्यादि। तब के समाचारपत्रों में इस प्रदर्शनी को 'सदी का चमत्कार' और 'दुनिया का नया आश्चर्य' कहा गया था।

ल्यूमियर भारत कब और कैसे आए, इसकी भी कहानी है। 1896 में भारत में रानी विक्टोरिया के प्रतिनिधि लॉर्ड एलिजन का शासन था। इसी वर्ष अचानक बाढ़ ने देश के अनेक भू-भागों को अपनी चपेट में ले लिया था। जैसे ही बाढ़ का पानी उतरा, प्लेग ने अपने पांव पसार लिए और बीस हजार लोग काल के गाल में समा गए। बंगाल में तो पीने के पानी की कमी तक पड़ गई। शोलापुर में करीब पांच हजार भूखे लोगों ने एक गोदाम पर धावा बोलकर अनाज लूटने का प्रयास किया था। जिस पर पुलिस ने फायरिंग की थी। दरअसल इन्हीं घटनाओं की फोटोग्राफी करने के लिए ल्यूमियर भारत आए थे। तब ल्यूमियर बंधुओं की फिल्में मात्र सत्रह मीटर लंबी होती थीं, जिसकी अवधि करीब आधा घटा से कुछ ही अधिक होती थी। तब पारदर्शी स्क्रीन से केवल बीस फीट की दूरी पर हस्तचालित प्रोजेक्टर रखा जाता था। और प्रतिदिन चार शो होते थे। ये शो शहर भर में चर्चा का विषय बन गए, लिहाजा मुंबई के कई मशहूर थियेटरों- नॉवल्टी, गेयटी आदि में नाटकों के बदले फिल्मों के प्रदर्शन होने लगे। किंतु ये सभी विदेशी फिल्में ही होती थीं। दो साल बाद 1898 में भारतीय स्थलों की फिल्में बनीं तो जरूर, लेकिन इनका भी निर्माण



वाटसन होटल, मुंबई

अंग्रेजों ने किया था।

वास्तव में हिंदुस्तान में सिनेमा के भारतीय संवर्द्धकों में हरिश्चन्द्र सखाराम भाटवडेकर उर्फ सावे दादा का नाम काफी आदर से लिया जाता है। सावे दादा पहले भारतीय थे, जिन्होंने सन् 1897 में लंदन से मोशन पिक्चर कैमरा मंगवाया था। इसके बाद उन्होंने कई वृत्तचित्र बनाए- जिसमें 1903 में 'एडवर्ड सप्तम का राज्याभिषेक' भी शामिल था। यानी भारत में सिनेमा की नींव यथार्थ और सामाजिकता रही है। आगे चलकर व्यवसायोन्मुख कल्पनाशीलता ने सिनेमा को घर-घर में जरूर लोकप्रिय बनाया, लेकिन कमजोरों के अधिकार और सोद्देश्यता से उसका सरोकार हमेशा बना रहा। सावे दादा के समानांतर ही हीरालाल सेन हमारे फिल्मोद्योग की एक ऐसी शख्सियत के रूप में सामने आए जिन्होंने शुरुआत भले ही नाटकों के फिल्मांकन से की थी, लेकिन वे पहले



मिनर्वा मूवीटोन की फिल्म 'पुकार' (1939) में चंद्रमोहन और नसीम बानो

फिल्मकार थे जिन्होंने अपने कैमरे से क्लोजअप पैनिंग और टिल्ट इत्यादि प्रभावों को उत्पन्न किया था। उस दौर के मुताबिक ये तकनीकें अत्यंत आधुनिक मानी गई थीं। हीरालाल सेन ने 1906 में 'बंगाल विभाजन का आंदोलन' नामक वृत्तचित्र बनाया, जिसे काफी महत्वपूर्ण माना गया।

सिनेमा को वृत्तचित्र की दुनिया से निकालकर कथा-चित्र की दुनिया में पहुंचाया दादा साहेब फालके (धुंडिराज गोविन्द फालके) ने, जिन्हें हम भारतीय सिनेमा के पितामह के रूप में जानते हैं। फालके हिंदी सिनेमा की वह शख्सियत थे, जिन्होंने स्थिर छायांकन और वृत्तचित्र से कई कदम आगे बढ़कर काम को अंजाम दिया। सन् 1910 में एक विदेशी फिल्म 'क्राइस्ट का जीवन' ने उनकी कल्पना को पंख लगा दिए। उन्होंने इसी शैली में 'श्रीकृष्ण का जीवन' नाम से फिल्म बनाने का विचार किया। लेकिन उन दिनों मुंबई में 'राजा हरिश्चंद्र' नाटक काफी लोकप्रिय हो चुका था, लिहाजा उन्होंने इसी विषय पर फिल्म बना डाली। यह 21 अप्रैल 1913 को मुंबई के ओलंपिया सिनेमा में प्रदर्शित हुई। इसके बाद भारत में मूक फिल्मों का चलन शुरू हो गया।

मूक सिनेमा के दौर में कई महत्वपूर्ण फिल्मकार हमारे सामने आते हैं, जिन्होंने फिल्मों को एक नई ऊंचाई दी और आगे बढ़ाया। इनमें महत्वपूर्ण हैं- जमदेशजी मदन, धीरेन्द्रनाथ गांगुली, बाबूराव पेंटर, द्वारकादास एन. सम्पत, आर्देशिर एम. ईरानी, भोगीलाल एम.के. दवे, चंदूलाल जे. शाह आदि।

मूक फिल्मों का यह दौर करीब अठारह वर्षों तक चला। मूक फिल्मों की एकरसता से लोग ऊबने लगे थे। पश्चिमी देशों में दर्शकों की घटती संख्या के कारण सिनेमा हाल बंद होने लगे। 1927 में वार्न बंधुओं ने दुनिया की पहली सवाक फिल्म 'द जॉज सिंगर' बना डाली। भारत में चार साल बाद 1931 में पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' बनी। आर्देशिर एम. ईरानी द्वारा निर्देशित यह फिल्म 14 मार्च, 1931 को मुंबई के मैजेस्टिक सिनेमा हॉल में प्रदर्शित हुई। इसे देखने के लिए दर्शक टूट पड़े।

इस तरह हिंदुस्तान में सिनेमा ने करीब 35 वर्षों के लंबे संघर्ष के पश्चात ठीक से चलना, फिरना और बोलना शुरू किया। इसके बाद नई ऊंचाइयों, नई उपलब्धियों, नये मुकामों और नये प्रयोगों का सिलसिला चल पड़ा। आज सिनेमा स्पेशल इफेक्ट्स और डिजिटल युग में प्रवेश कर चुका है। सिनेमा के पर्दे पर कोई भी करतब दिखाना मुश्किल नहीं रहा। 1931 से 1947 तक हमारा सिनेमा ऐतिहासिक और समाज सुधार के विषयों से गुंजायमान रहा। 'दौलत का नशा' (1931), 'चण्डीदास' (1932), 'पूरन भगत' (1933) जैसी फिल्मों ने सामाजिक चेतना की बुनियाद रखी थी।

न्यू थियेटर्स के तीन प्रमुख स्तंभों- देवकी बोस, नितिन बोस और प्रमथेश बरुआ ने ऐसी फिल्मों का निर्माण किया जो सामाजिक परिवर्तन का अलख जगाने वाली साबित हुईं।

1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना, मार्क्सवाद की नई बौद्धिक लहर और साथ में गांधीवाद तथा देशभक्ति की प्रेरणा ने सिनेमा को विशेष रूप से प्रभावित किया। नितिन बोस ने इसी वर्ष कारखानों के मजदूरों की जिन्दगी पर आधारित 'प्रेसीडेंट' बनाई जो अत्यन्त सफल साबित हुई। इस फिल्म के कलाकार थे- कुंदनलाल सहगल, कमलेश कुमारी, पृथ्वीराज कपूर और लीला देसाई। 'प्रेसीडेंट' की सफलता के बाद नितिन बोस ने 1938 में 'धरतीमाता' बनाई। यह फिल्म खेत-खलिहानों में काम करनेवालों की जिंदगी पर आधारित थी। यही दौर था जब प्रमथेश चंद्र बरुआ ने 1935 में न्यू थियेटर्स के लिए शरतचंद्र चट्टोपाध्याय के लोकप्रिय उपन्यास देवदास पर इसी नाम से फिल्म बनाई थी। इस फिल्म के गीत और संवाद केदार शर्मा ने लिखे थे और अभिनेता थे- कुंदनलाल सहगल। इस फिल्म ने सफलता के रिकार्ड बनाये। न्यू थियेटर्स की एक और चर्चित फिल्म थी- 'स्ट्रीट सिंगर', जिसका निर्देशन



बिमल राय द्वारा निर्देशित 'दो बीघा जमीन' (1953) में बलराज साहनी



सत्येन बोस द्वारा निर्देशित 'बंदिश' (1955) में मीनाकुमारी, अशोक कुमार

फणि मजूमदार ने किया था। 1938 में बनी इस फिल्म में नायिका थी- कानन देवी।

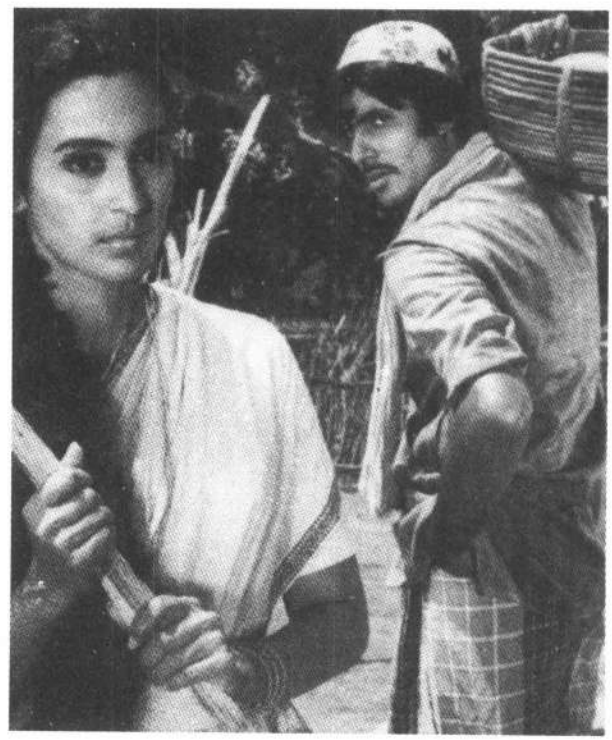
आजादी से पहले न्यू थियेटर्स के अलावा दो अन्य प्रमुख फिल्म कंपनियों -प्रभात फिल्म और बॉम्बे टॉकिज का खासा बोलबाला था। प्रभात फिल्म से जुड़े थे- विष्णु पंत दामले, सैयद फतेह लाल, वी. शांताराम और के. धायबर। और बॉम्बे टाकीज की स्थापना हिमांशु राय ने की थी। हिंदी सिनेमा को नई ऊंचाई दिलाने में इन दोनों फिल्म कंपनियों का विशेष योगदान है। वी. शांताराम ने तो हिंदी सिनेमा को अंतर्राष्ट्रीय पहचान दी। प्रभात फिल्म के लिए वी. शांताराम ने कई फिल्मों का निर्देशन किया, जिनमें 'सैरन्ध्री' के अलावा 'दुनिया ना माने' (1937), 'आदमी' (1939) और 'पड़ोसी' (1941) हैं। 'पड़ोसी को सांप्रदायिक सद्भाव की खास फिल्म माना गया। इसके पश्चात वी. शांताराम ने 1941 में अपनी अलग फिल्म कंपनी बनाई- 'राजकमल कला मंदिर'। इस कंपनी की पहली फिल्म थी- 'शकुंतला'। लेकिन 1946 में बनी 'डा. कोटनीस की अमर कहानी' फिल्म से शांताराम की चर्चा सर्वत्र छा गई।

उधर बॉम्बे टॉकीज के माध्यम से हिमांशु राय ने अशोक कुमार जैसे प्रतिभाशाली अभिनेता की खोज कर ली थी। अशोक कुमार की पहली फिल्म थी, 'जीवन नैया' (1936), इस फिल्म में नायिका थी- देविका रानी। ये दौर समाज सुधार आंदोलनों का भी था, फलस्वरूप जनसंचार का माध्यम सिनेमा भी इससे अछूता कैसे रहता। 1936 में ही अस्पृश्यता विषय पर फिल्म बनी- 'अछूत कन्या'। अशोक कुमार और देविका रानी की जोड़ी ने एक बार फिर इस फिल्म को लोकप्रियता के मुकाम तक पहुंचा दिया। 1942 तक आते-आते हिंदी सिनेमा देशभक्ति की भावनाओं से लबरेज हो उठा। 'किस्मत', 'बापू की अमर कहानी', 'शहीद', 'हम एक हैं', 'हमराही', 'पड़ोसी', 'फोर्टी-टू', 'नीचा नगर', 'अपना देश', 'आग', 'बरसात' जैसी फिल्मों में रोमानी और सामाजिक भावनाओं के साथ-साथ राष्ट्रवादी जज्बातों को भी अभिव्यक्ति दी गई थी।

15 अगस्त, 1947 के बाद शासकीय-प्रशासकीय आजादी के साथ-साथ लिखने, बोलने और फिल्मोग्राफी की आजादी ने सिनेकारों को नई जिन्दगी दे दी। नव स्वतंत्र सिनेमा के उन्नायकों में महत्वपूर्ण हस्ताक्षर बने- महबूब खान, वी. शांताराम, गुरुदत्त, बिमल राय, राजकपूर, हेमेन गुप्ता, चेतन आनंद, बी. आर. चोपड़ा, कमाल अमरोही, ख्वाज़ा अहमद अब्बास और दत्ता धर्माधिकारी आदि। न केवल चौथा बल्कि पांचवां और छठा दशक भी इन फिल्मकारों की उपलब्धियों से गुंजायमान रहा। हिंदी फिल्मों के ये ऐसे निर्माता-निर्देशक हुए, जिन्होंने कोरी व्यावसायिकता से कभी समझौता नहीं किया, हां, मनोरंजक मेलोड्रामा की पेशकश जरूर की, लेकिन संवेदना और समाज के हित के जज्बे को हमेशा बरकरार रखा। इनकी फिल्में महज तमाशा नहीं बल्कि एक रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रतीत होती हैं। 'मुगले आज़म', 'मदर इंडिया', 'दो आंखें बारह हाथ', 'प्यासा', 'कागज के फूल', 'दो बीघा जमीन', 'देवदास', 'आवारा', 'बरसात', 'धूल का फूल', 'धरती के लाल', 'धरती पुत्र', 'गुमराह' इत्यादि, फिल्में हिंदी फिल्मोद्योग की मानक प्रस्तुतियां हैं। इन्हीं की बदौलत हिंदी सिनेमा के इस दो दशक को स्वर्ण युग कहा गया।

सातवें दशक के बाद हिंदी सिनेमा मुख्य तौर पर दो भागों में बंट गया दिखाई देता है। स्वर्ण युग के फिल्मकार, जो कि सोच-विचार और भावुक संवेदना का धरातल तैयार कर गए थे- उन्हीं को सातवें दशक के फिल्मकारों ने पृथक-पृथक कर दिया। एक धड़ा ऐसा हुआ जो शुद्ध मनोरंजनवाद को शरणागत हो गया- तो दूसरा धड़ा फ्रांस के न्यूवेव आंदोलन से प्रेरित था।

इस दूसरे धड़े यानी कला सिनेमा की प्रेरणा भूमि बंगाल की भूमि भी रही। जहां सत्यजीत राय ने 'पाथेर पांचाली' और ऋत्विक घटक ने 'नागरिक' जैसी फिल्मों का निर्माण कर लिया था। हिंदी में इस दौर की उल्लेखनीय फिल्में हैं- 'भुवनशोम', 'भवनी भवाई', 'गर्म हवा', 'माया दर्पण', '36 चौरंगी लेन', 'पार', 'मिर्च मसाला', 'तरंग', 'निशांत', 'रजनीगंधा', 'फिर भी', 'अर्द्धसत्य', 'बाघ बहादुर', 'दामुल' और 'सलाम बॉम्बे' आदि। वास्तव में इन फिल्मों के माध्यम से श्याम बेनेगल, मृणाल सेन, ऋत्विक घटक, केतन मेहता, तपन सिन्हा, सईं परांजपे, गोविन्द निहलानी, प्रकाश झा, मीरा नायर, दीपा मेहता जैसे मूलत: प्रगतिशील विचारधारा के फिल्मकारों ने अंधविश्वास, रूढ़ि, शोषण के खिलाफ जोरदार आवाज बुलन्द की थी। हालांकि कालान्तर में ये आवाज समारोहों की दीवारों में कौंधकर रह गई और इसीलिए आर्थिक घाटे से उपजी विवशता के कारण इन फिल्मकारों को गीत-संगीत आधारित संदेश प्रधान फिल्में बनानी पड़ीं।



'सौदागर' में नूतन और अमिताभ बच्चन

सातवें दशक के पश्चात मुख्यधारा के सिनेमा की बात करें तो अपराध का पर्दाफाश इस दौर का खास विषय प्रतीत होता है। इसकी शुरुआत 1975 में बनी यश चोपड़ा द्वारा निर्देशित फिल्म 'दीवार' से मानी गई। इस फिल्म की लोकप्रियता ने हिंदी सिनेमा के समीकरण बदल दिए। इसी साल 'शोले' की ऐतिहासिक प्रसिद्धि से सिनेमा का मानो पुनर्जागरण काल आ गया। इससे फिल्म उद्योग को जबर्दस्त आर्थिक फायदा हुआ। अब तक लाखों का कारोबार करोड़ों में पहुंच गया। 'दीवार' और 'शोले' की शैली में आगे चलकर हमारी फिल्में जितनी मुखर हुईं, बॉलीवुड का कारोबार बढ़ता गया। इस उछाल में सुपर स्टार अमिताभ बच्चन का बड़ा योगदान माना गया।

आठवें दशक के आरंभ में हमारा सिनेमा स्टार-संतान के युग में प्रवेश कर गया। और नये सिरे से स्टारडम और ग्लैमर का सम्मोहन देखने को मिला। युवा हो रही पीढ़ी को इन नये चेहरों ने खासतौर पर प्रभावित किया। यह वही दौर था, जब शहरी बयार गांवों तक पहुंच चुकी थी और फिजां में वैचारिक खुलापन की आंधी समा चुकी थी। विकल्प और पर्याय की तलाश नया फैशन थी। स्टार संतान की फिल्मों ने इस चलन को बढ़ावा दिया था। लेकिन हमारे सिनेमा की सबसे खास बात यह रही कि सामाजिकता और पारिवारिकता का



सूरज बड़जात्या द्वारा निर्देशित 'हम आपके हैं कौन' का एक दृश्य

जो धरातल उसे विरासत में मिला, कुछ अपवादों को छोड़कर उससे नाता कभी नहीं टूटा। शोषण और अंधविश्वास के खिलाफ फिल्में आगे भी बनती रहीं, अपाहिजों और कमजोरों को संवेदना देने वाली फिल्मों का सिलसिला चलता रहा। स्त्री हमारी फिल्मों का खास विषय रही है, लेकिन इस स्त्री का केवल अंग प्रदर्शन नहीं किया गया, बल्कि उसके अधिकारों, उसके अकेलेपन, उसकी उपेक्षाओं के हक में 'अछूत कन्या' से लेकर 'दामिनी' तक आवाजें उठाई गईं।

अब हिंदी फिल्मोद्योग की ख्याति अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक पहुंच गई है। इस उपलब्धि को हासिल कराने में नई पीढ़ी के फिल्मकारों का महती योगदान माना जाता है। आशुतोष ग्वारिकर, जगमोहन मूंदड़ा, करन जौहर, रामगोपाल वर्मा, मधुर भंडारकर, संजयलीला भंसाली, फरहान अख्तर आदि ने हिंदी सिनेमा को एक नई ऊंचाई दी है। इनकी फिल्में चाहे 'लगान' हो, 'दिल चाहता है' हो, 'हम आपके हैं कौन' हो, 'पेज-थ्री' हो, 'कभी खुशी कभी गम' हो, 'ब्लैक' हो, 'देवदास' हो या फिर हाल-फिलहाल बनी फिल्म 'रंग दे बसंती' हो- इन फिल्मों ने दुनियाभर में शानदार बिजनेस किया है।

अमिताभ बच्चन के बाद इस दौर के आमिर खान, शाहरुख खान, सलमान खान, ऋतिक रोशन, संजय दत्त, अभिषेक बच्चन, मनोज वाजपेयी, काजोल, ऐश्वर्या राय आदि ऐसे कलाकार हैं जिनकी फिल्मों की मांग दुनिया भर में हो रही है। कई मायनों में क्रॉसओवर प्रस्तुतियों ने तो हॉलीवुड और बॉलीवुड की दूरी को भी कम करने की कोशिश की है।

वर्तमान में यदि किसी फिल्म के निर्माण में पचास करोड़ की राशि खर्च हो रही है, तो हमारी फिल्म इंडस्ट्री की आर्थिक समृद्धि का भी सहज अनुमान लगाया जा सकता है। हम कह सकते हैं कि पिछले सौ सालों में भाषाई दिक्कतों के बावजूद हमारा बॉलीवुड शोहरत की बुलंदियों पर है। यों भी दुनिया भर में एक साल में सबसे ज्यादा (आठ सौ से अधिक) फिल्में बनाने का रिकार्ड भारत के ही नाम दर्ज है। □

पहली फिल्म...

सिनेमा का प्रथम प्रदर्शन: 7 जुलाई 1896, मुंबई के वाटसन होटल में।

प्रथम सिनेमा हाल : एलफिन्सटन पिक्चर पैलेस, कोलकाता 1907 में जे.एफ. मदान द्वारा निर्मित।

पहली थिएट्रिकल फिल्म : 'पुंडलिक' मई 1912

पहली भारतीय फिचर फिल्म : 'राजा हरिश्चन्द्र', दादा साहेब फालके द्वारा निर्मित। यह फिल्म 3 मई 1913 को मुंबई में प्रदर्शित की गई।

पहली बोलती फिल्म : 'मेलॉडी ऑफ लव', यह फिल्म 1929 में कोलकाता के एलफिन्सटन पिक्चर पैलेस में दिखाई गई थी।

पहली भारतीय बोलती फिल्म : 'आलम आरा', आर्देशिर ईरानी द्वारा निर्मित यह फिल्म 14 मार्च 1931 को मुंबई के मैजेस्टिक सिनेमा हॉल में दिखाई गई।

पहला अभिनेता : दत्तात्रय दामोदर डबके ने 1913 में 'राजा हरिश्चंद्र' में अभिनय किया।

प्रथम पुरुष अभिनेता द्वारा महिला भूमिका : ए. सालूंके ने 'राजा हरिश्चंद्र' (1913) में तारामती की भूमिका अभिनीत की।

पहली अभिनेत्री : कमला बाई गोखले। इन्होंने दादा साहेब फालके की फिल्म 'भस्मासुर मोहिनी' (1914) में अभिनय किया था।

भारतीय फिल्मों का पहला अभिनेता (नायक-नायिका) : ए. सालूंके ने 1917 में फालके द्वारा निर्मित 'लंका दहन' में राम और सीता दोनों का अभिनय किया।

पहली महिला फिल्म निर्देशक : बेगम फातिमा सुलतान।

पहला फिल्मी गीत : 'दे दे खुदा के नाम पर', 1931 में 'आलम आरा' फिल्म के लिए रिकॉर्ड हुआ।

पहला संगीत निर्देशक : फिरोज शाह 'मिस्त्री', 'आलम आरा' के संगीत निर्देशक।

सर्वाधिक गीतों वाली पहली फिल्म : 'इंद्र सभा', 1932 में मदान थियेटर्स द्वारा निर्मित इस फिल्म में 71 गाने थे।

अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त करने वाली पहली फिल्म : 'नीचा नगर' (1946), निर्देशक- चेतन आनंद।

खूनी ताने-बाने

इब्राहीम मोतमद नज़ाद

उर्दू से अनुवाद : हसन ज़माल

रेखांकन : संजीव शाश्वती



पांच-छह कच्चे मिट्टी के घेर, बेर और कुछ दूसरे दरख्त, एक तन्दूर, उथला चश्मा, छोटी-सी तलैया, यही सब कुछ उस टेढ़े-मेढ़े मैदान में फैले बेजोम गांव को आबाद किये हुए थे।

दोपहर का समय था। पूरा गांव जलते सूरज से भाड़ के चने की तरह भुंन रहा था। दीवार के साये में बैठी गाय, भेड़ों का झुंड जबरदस्ती जुगाली कर रहा था। हांफते और गर्मी से परेशान परिंदे पत्तों के साये में छुपे बैठे थे। मैदान के एक तरफ एक बड़े-से पेड़ की मोटी शाख से खाल उतारी भेड़ टंगी हुई थी। उस पर मक्खियां भिनभिना रही थीं। अपने हाथ में बड़ा-सा चाकू लिए एक बूढ़ा उकड़ूं बैठा बीच-बीच में आवाज भी लगाता जा रहा था, गोश्त, गोश्त भेड़ का...।

चश्मे के किनारे बैठा काला-कलूटा लड़का पत्थर से रगड़-रगड़कर हाथ की मैल छुड़ा रहा था। कुछ ही दूरी पर कीचड़ में लिथड़ा कुत्ता पानी में डुबकी लगा रहा था। उससे थोड़ी ही दूर गुल अफरोज़ सर से पैर तक पसीने में नहायी हुई सामने रखी आटे की लोइयों को बेल-बेल कर तन्दूर की दीवार पर चिपका रही थी और बीच-बीच में सेंकी हुई रोटियों को एक तरफ रखती भी जा रही थी। पांव की एड़ियां तन्दूर की गर्मी से चटख रही थीं। गुल अफरोज़ की उम्र यही कोई आठ साल के लगभग होगी। उसके बदन पर चर्बी ना के बराबर थी। हड्डीदार चेहरा और सूरज की तपिश से जली रंगत। छोटी-छोटी चमकीली आंखें काले चेहरे पर अजब अंदाज से झिलमिल कर रही थीं। उलझे बाल, जिनमें जुएं ही जुएं थीं, सूती चादर के नीचे तक चीथड़े की तरह लटक रहे थे जिनसे झांकती दो पतली सूखी टांगें उसके जिस्म को उठाए नजर आ रही थीं।

यकायक दूर से आती घोड़ों की टापों से मैदान गूंज उठा। बूढ़े कसाई ने लटकी हुई भेड़ को तेजी से उतारा और कंधे पर रखकर सामने वाली तंग गली के मुहाने में जा घुसा।

''हाय! हाय...सिपाही आ गए हैं भागो...।''

गुल अफरोज़ घबरायी-सी कसाई के पीछे भागी, गायें और भेड़े भी में में बें बें की आवाजों के साथ बिखरने लगीं। पल भर में ही मैदान खाली

हो गया और तीन घुड़सवार उस मैदान में पहुंच गए।

"अरे...अरे...बुजदिलो। मत डरो। कहां है रोड गार्ड, अरे भाई, यह तो मैं हूं... अली मर्दानखां आया हूं ताकि कालीन बुनने वाले बच्चों को ले जाऊं।"

यह सुनकर खड़े हुए लोग अपनी जगह से सरकने लगे। जब उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि वे सिपाही नहीं हैं तो बाहर निकलकर मैदान में जमा हो गए।

अली मर्दानखां ठिगना कद, लंबे हाथ और मर्दाना गालोंवाला आदमी था। उसकी आंखों में बहती नफरत और छुपे हुए बदले के शदीद जज्बे का अंदाजा लगा लेने के बाद ही लोग उससे हाथ और पैरों का चुंबन ले रहे थे और कह रहे थे, "आइये मालिक।"

"हम तो आपके पैरों की धूल के बराबर हैं जमींदार साहब।"

"खुदा हमारे ऊपर मालिक का साया कायम रखे।"

"ये हड्डियां, ये गोश्त कहने के लिए हमारे हैं, मगर पूरा वजूद आप ही के दम से है।"

हर कोई अपनी औलादों को अली मर्दानखां के सामने लाता और विनम्रता से खुशामद करता हाथ-पांव जोड़ रहा था।

अली मर्दानखां ने गुल अफरोज़ के हर अंग का यूं मुआयना किया, जैसे कसाई बकरे को खरीदने से पहले करता है। फिर उसके बाप से बोला, "कितने दिनों के लिए दोगे?"

"जितने दिनों के अन्नदाता चाहेंगे।" वह दोनों हाथ जोड़कर बोला।

"बहुत खूब... बहुत अच्छा... शाबाश, रोजाना का तुम को पांच रियाल मिलेगा। इसके अलावा इसको खाना-पानी। अब बोलो, इससे ज्यादा क्या चाहिए?"

"कुछ नहीं मालिक.... कुछ नहीं। हमारे लिए यही बहुत है।"

"इसे ले जाओ गाइड, आबादी की तरफ वह जगह अच्छी है।"

यह मत भूलना कि पांच साल से पहले बगैर मेरी मर्जी के तुम इसे वापस नहीं बुला सकते। मेरे पास कोई मुफ्त की रोटियां तो हैं नहीं जो लंगर लुटाऊं इसके पेट को भरने के लिए। पांच साल तक पैसा खर्च करूंगा और बाद में नतीजा क्या निकलेगा, यही ना कि मुफ्त और सस्ते में इसे गंवा बैठूंगा...।

अली मर्दानखां ने दोनों तंदुरुस्त व ताकतवर मर्दों की तरफ इशारा किया और गुर्राया, "कौन है जो इस लड़की को घोड़े पर बैठाएगा?"

वह जो कद में लंबा और ज्यादा सेहतमंद था, आगे बढ़ा। गुल अफरोज़ बाज के पंजों में फंसी एक चिड़िया की तरह उसके हाथों में आई और उसने एक हाथ से उठाकर घोड़े की ऊंची पीठ पर बिठा दिया। अली मर्दानखां उछलकर घोड़े पर सवार हुआ और पलक झपकते तीनों घोड़े पहाड़ियों के पीछे गुम हो गए।

गुल अफरोज़ कारखाने के कोने में बैठी घुटनों पर सर रखे खामोशी से चांदनी के हिंडोले को टकटकी लगाए देख रही थी। थकी, झुंझलायी-सी। नींद का दूर तक पता न था। मां की गर्म गोद की याद उसे रह-रह के आ रही थी। उसी के सामने एक दूसरे से लिपटी मासूमा और इस्मत बेखबर खर्राटे भर रही थीं।

आसमान पर उजाला फैलने वाला ही था कि कारखाने का दरवाजा चर्र की आवाज के साथ खुला और लंबा-चौड़ा साया दरवाजे पर नजर आया। यह बड़ा 'उस्ताद' था। भयभीत इस्मत और मासूमा डरकर नींद से जाग गयीं। उन पर बड़े उस्ताद की डांट पड़ी। "मुर्दा लाशो, उठो, जाकर पानी भरो। झाड़ू का काम गुल अफरोज़ का है। पहले मालिक का घर साफ करना है, बाद में कारखाना।"

इस्मत और मासूमा लाल सूजी आंखें लिए घड़े को कंधे पर रख के चश्मे की तरफ चलीं और गुल अफरोज़ उदास निढाल-सी झाड़ू लिए गली के उस पार मालिक के घर की तरफ।

जब मासूमा व इस्मत अपना काम खत्म करके लौटीं, तो गुल अफरोज़ भी काम से निपटकर लौट चुकी थी, उसका दिल एक चाय के लिए बेचैन हो रहा था और दिमाग बेजोम गांव में घूम रहा था। जैसे ही बड़ा उस्ताद मालिक के घर से बाहर निकला, उदास मुरझाये हुए चेहरों से तीनों लड़कियां कालीन बुनने का चाकू हाथ में लिए उसके सामने बैठ गयीं। बड़ा उस्ताद हाथ में कालीन का नमूना थामे उन्हें बुनाई सिखाने लगा।

"क्या मौत आ रही है या हाथों को लकवा मार गया है...तेजी से हाथ चलाओ... इधर खींचो ...इधर...।"

लड़कियां लंबी कांपती उंगलियों से विभिन्न रंगों के ऊन में गिरह लगातीं और फिर उसके सिरे को कूटतीं। बड़ा उस्ताद ध्यान से जांच करता रहा।

दोपहर को वे तीनों लड़कियां एक बड़े प्याले के चारों तरफ बैठी भूख से बेकरार होकर बड़े शौक से खाना खाने में व्यस्त थीं। जब गाढ़ा सब्जी वाला सूप खत्म हुआ, तो मासूमा ने गली के नुक्कड़ को देखते हुए धीरे से कहा, "कितना काम था।"

शाम को सूरज के डूबने के वक्त जब उन्होंने हाथों के चाकू रख दिये, उसी वक्त उस्ताद की आवाज आई, "उठो, जल्दी से पानी भरो। फिर तबेले भी जाना है।"

गुल अफरोज़ ने भेड़ों का झुंड इकट्ठा कर लिया और उनकी नाद में ताजा घास डालने लगी। इस्मत और मासूमा बड़बड़ाती हुई तबेले की बाल्टियों को पानी से भरने लगीं।

अचानक रात में गुल अफरोज़ फूट-फूटकर रोने लगी। रोने की आवाज से मासूमा और अस्मत जाग उठीं और वे दोनों भी रोने लगीं। जब गुल अफरोज़ ने जी भरकर रो लिया, तो इस्मत से बोली, "ऐसा नहीं हो सकता है कि किसी तरह यहां से निकल चलें?"

"ऐसा नहीं हो सकता है अफरोज़ पिछले साल मासूमा भागी थी। कुछ दिनों बाद मालिक इसे ढूंढने पहुंचा। बाप ने इंकार कर दिया, इस पर मालिक ने मासूमा के बाप को गोली मार दी।"

इस्मत खामोश हो गई और मासूमा ने लाचारी से निचला होंठ दांतों से जोर से दबा लिया।

गांव सोया पड़ा था। कुत्ते भी एक-दूसरे के आसपास पड़े बड़े सकून से आराम कर रहे थे। पेड़ों की पत्तियां तक नहीं हिल रही थीं। चांद आहिस्ता-अहिस्ता डूब गया था। तीनों लड़कियां एक-दूसरे की गरदन में हाथ डाले सो गयीं।

बड़ा उस्ताद नाराज-सा खड़ा था। कालीन बुनने वाली लकड़ी के चाकू को गुल अफरोज़ के मुंह पर फेंक मारा, "नसीबोंजली, कहां हैं तेरे होशोहवास। लाल की जगह हरा रंग लगा रही है? मुफ्त की रोटी तोड़ती है, काम नहीं करती, बेवकूफ है... बेवकूफ।"

गुल अफरोज़ ने हरे रंग की गठरी को तेजी से खोला और उसकी जगह दूसरा रंग लगाया। मगर बड़ा उस्ताद उसी तरह बड़बड़ाता रहा।

एक हरे रंग की लंबी चमचमाती कार कारखाने के करीब आकर रुकी। दो मर्द और एक औरत नीचे

उतरे। दोनों मर्द लंबे कद के थे। होंठों में सिगरेटें दबी हुई थीं। औरत सफेद कपड़े की चादर ओढ़े हुए थी, लेकिन बदन से चिपकी जींस साफ नजर आ रही थी।

मालिक ने कार की आवाज जैसे ही सुनी, कमरे से बाहर निकल आया। ऊंची काली शलवार पहने था। कपड़े मैले-कुचैले। जम्हाई लेता सर खुजाता हुआ बड़ी मक्कारी से बोला, 'वाह... वाह, वेलकम... हमारी यह बस्ती कालीनों से भरी थी। अब आपके आने से तो इसका रंग ही बदल गया है। लगता है, पिछली कालीनें आपको पसंद आई हैं।''

गले के बटन बंद करती हुई औरत बोली, ''खैर इतनी अच्छी भी न थी। भाई ने खरीदी थी, दाम भी न बताया।''

'खैर, दाम वगैरह में तो कोई ज्यादा फर्क नहीं हुआ है। उसी का जोड़ा बन रहा है। एकदम कमबख्त मखमल की तरह है, नमूना वही 'सादिया' का है। आइये, कारखाने के अंदर तशरीफ लाइये।'

आगे औरत पीछे दोनों मर्द अंदर दाखिल हुए। उनमें से एक ने कीमत पूछी।

''बस, सौ रुपये ज्यादा हो गए हैं।''

''मगर यह तो महंगी पड़ी। अगर पहले वाली कीमत रखो तो समझो हमने खरीद ली।''

''नहीं जनाब, हमें कबूल नहीं होगा। रंग महंगे हो गए हैं।''

दूसरा आदमी, जो दलाल था, बोला, ''आधा कर लेते हैं, पचास रुपये खुदाबरकत।''

एक रजामंदी की मुस्कराहट सभी के होंठों पर फैल गई। औरत ने लड़कियों से कहा, ''लड़कियो! अगर कालीन जल्दी खत्म की तो तुम्हारे लिए फूलदार स्कार्फ लाऊंगी।''

पहला आदमी नोटों का बंडल आगे बढ़ाता हुआ बोला, ''ये रहा आठ हजार नकद, बकिया कालीन मिलने पर।''

''कोई बात नहीं, ये भी न देते तो कोई बात न थी'', कहते हुए उसने रुपये मोड़कर कमर में रख लिए।



गुस्से से भरी मालिक की आवाज गूंज रही थी, ''दो महीने ही तो हुए हैं यहां काम करते हुए। इसमें भी दो दिन उंगली कट जाने से काम न किया, तीन दिन रंग न था। इस तरह पांच दिन हुए'' फिर मालिक ने आवाज और तेज की, ''और कमबख्त काम भी तो नहीं जानती है, बार-बार खराब करती है।'' एक कश और ले कर बोला, ''अब बचे पचास दिन, इसकी मजदूरी पच्चीस तुमान, ठीक है ना?''

गुल अफरोज़ के बाप हैदरअली ने सर नीचा करके आहिस्ता से कहा, ''ठीक है मालिक।''

''मेरे हिसाब में एक कौड़ी का भी हेरफेर नहीं पाओगे। लोगों का एक पैसा भी खाना मैं हराम समझता हूं।''

''खुदा आपको लंबी उम्र दे, आपके दस्तरख्वान से बचे टुकड़े हमें नसीब करे, हम इस नेकी का क्या बदला दे सकते हैं।''

''ठीक है, मगर एक बात याद रखना, जाड़े तक इधर मत आना, जब भी आओगे, गुल अफरोज़ का दिल घर जाने के लिए बेचैन हो उठेगा।''

''आपका हुक्म सर आंखों पर।''

उसी वक्त बदहवास-सी इस्मत गिरती-पड़ती वहां आ पहुंची।

''मालिक, सिपाही आए हैं, आपको पूछ रहे हैं।''

जमींदार वहीं लेटा-लेटा चिंघाड़ा, ''उन कमबख्तों को फिर मौका मिल गया। जब तक उनके सामने हड्डी न डालें, ये हटेंगे नहीं, यह दारोगा खलील तो पूरा बदमाश है। एक मील से लाश की तरह बदबू देता है।''

गली पार करके वह कारखाने पहुंचा, ''सलाम सरकार। यहां कहां खड़े हैं आप, अंदर तशरीफ लाएं। बातचीत करते हैं, अफीम पीते हैं।'

''फिर कभी। अभी तो वक्त कम है। अभी समसूलाबाद भी जाना है। खबर मिली है, लाठियों से वहां आपस में सर फुटव्वल हुआ है।''

''कहीं पानी और जमीन के लिए झगड़ा तो नहीं हुआ?''

''नहीं, एक शादी थी। दुल्हन किसी और से शादी करना चाहती थी, पहले से कहीं उसका मामला चल रहा था।''

खलील दारोगा ने मुंह में जमा हुए थूक की एक पीक जमीन पर फेंकी और गंभीर होकर बोला, ''ये जो तुम्हारे यहां काम करने वाले हैं, बारह साल से कम के हैं। कानून तो जानते हो तुम। इसमें यह जुर्म है और इसे रोकना हमारा काम है।''

जमींदार ने सुनी-अनसुनी करते हुए कहा, ''बड़ा अच्छा हुआ, जो आप इधर से गुजरे, वह भी जाड़े की शुरुआत और भेड़ों को हलाल करने का मौसम। आप जानते ही हैं, बगैर आपके हमारे गले से एक निवाला भी उतरे। कल ही अपनी बीवी से कह रहा था कि एक पूरी भेड़ आपको इमामत कर दूं। आप जो कहें।''

दारोगा ढीला पड़ गया और बोला, ''तुम हमेशा मुझे शर्मिन्दा करते हो। खैर, भेड़ जिब्ह करके गोश्त भेज देना।''

खलील दारोगा ने सिपाहियों की तरफ चेहरा फेरा और कहा, ''चलो चलें, वर्ना वहां एक भी नहीं बचेगा।''

रात अंधेरी और खामोश थी। आसमान पर बादल छाए हुए थे। कारखाने के फर्श पर तीनों लड़कियां शिद्दत के जाड़े में कांपती, ठिठुरती एक

फटे गिलाफ में सिमटी पड़ी थीं। अलाव भी राख हो गया था। यकायक गुल अफरोज़ बोली, ''इस्मत, जाग रही हो?''

''हां, बहुत ठंडक है। मुझे नींद नहीं आ रही है, मगर शायद मासूमा सो गई है।'' इस्मत ने मासूमा के बदन को छुआ, ठंडी पड़ी थी...।

सुबह होते ही बड़ा उस्ताद लंबा गर्म चेस्टर पहने, सर पर गर्म मफलर बांधे कमरे में दाखिल हुआ, ''अभी पड़ी सो रही हो?''

इस्मत और गुल अफरोज़ के भर्राये गले से आवाज नहीं निकल रही थी।

''उस्ताद..। उस्ताद मासूमा उठ नहीं रही है।''

''गू खाती है कमबख़्त पूरा खानदान इसका ख़तम हो!'' बड़े उस्ताद ने लिहाफ के ऊपर से ही एक जोरदार लात मासूमा को मारी और लिहाफ को उसके ऊपर से खींचा, तो अचानक उसके ललाट पर सिलवटें पड़ गयीं और गले में कुछ ऊपर-नीचे होने लगा। हकलाते हुए बोला, ऐं...ऐं... यह कैसे हो सकता है। फिर खुद ही जवाब दिया, ''हां, तो इसका काम तमाम हो गया। फिर तेजी से जमींदार के घर की तरफ भागा और वहां जाकर बोला। ''मालिक ...। मासूमा ऐंठ गई है।''

''मर गई है...? कुत्ते की औलाद, यह कौन-सी जरूरी बात थी कि जो मुझे जगाने आ गया? मैंने सोचा, भेड़िया भेड़ों के तबेले में घुस आया। घबराने की बात नहीं है। बहा दो। बस ध्यान रखना, कहीं रुकें नहीं।''

मासूमा की लाश को ठिकाने लगाकर जैसे ही वह कारखाने लौटा, आराम से बैठकर उसने उनसे पूछा, ''अगर किसी ने पूछा कि मासूमा कहां गई है तो क्या जवाब दोगी?''

गुल अफरोज़ ने कहा, ''कहेंगे, सुबह जगाया तो उठी ही नहीं और आपने उसे...।''

सुनते ही उस्ताद ने उसके मुंह पर एक तमांचा मारा, ''कमबख्तो। अगर यह बात कहीं कही तो चमड़ी खेंच लूंगा। तुम दोनों एक ही बात कहना कि मां के पास गई है।''

''ठीक है उस्ताद।'' वे बोलीं।

वह ठंडी उजली रात थी। बहार की शुरुआत। जंगली फूलों की खुशबू वातावरण में बसी हुई थी। भेड़ें जुगाली कर रही थीं और कहीं से बांसुरी की आवाज माहौल में गूंज रही थी। गुल अफरोज़ खुशी से निहाल बैठी थी। तय है कि कल बाप आएगा और उसे बेजोम ले जाएगा। आज पांच साल के बाद पहली बार उसके मुंह पर हंसी खिल रही थी। सख्त दिन उसे एक-एक करके याद आ रहे थे। पिछले जाड़ों में एक रात इस्मत भागी, मगर रास्ते में बर्फीले तूफान में फंस गई। फिर उसकी कोई खबर न मिली।

अगली यादें मालिक के कुत्ते के भौंकने में गुम हो गयीं। मालिक लंगड़ाता हुआ कारखाने का दरवाजा खोलकर अंदर पहुंचा और दरवाजे को बंदकर लिया।

''कहां है मेरी कबूतरी? तुम कल जाना चाह रही हो मुझे अभागा बनाकर। बेमुरव्वत। कितना खर्च किया है तुझ पर मैंने। ये बदन मेरे ही रहमोकरम से तो बढ़ा है...''

गुल अफरोज़ डर के मारे अधमरी-सी हो गई। उसकी जबान मुंह में चिपक के रह गई। छोटे उभारों वाला उसका सीना धौंकनी की तरह चलने लगा। उसी वक्त मालिक बेताब-सा उसकी तरफ बढ़ा। भूखे भेड़िये की तरह हू, हा करती उसकी आवाज हवस बढ़ा रही थी। यकायक उसने गुल अफरोज़ को दबोचा। गुल अफरोज़ ने पूरी ताकत से उसका मुंह नोच लिया और भागी। पूरी तरह से मालिक ने हमला किया, गुल अफरोज़ का गला अपने भारी हाथों में दबोच लिया। गुल अफरोज़ बिना किसी आवाज के ढीली पड़ गई। घुटने मुड़ गए। खून और झाग में लिपटी राल नाक और मुंह से बह निकली। मालिक ने फिर हवस के भड़कते शोलों को शांत किया और एक विजेता पहलवान की तरह किला फतह की-सी शान के साथ बाहर निकल गया। खून की बूंदें कालीन बुनने के धागों पर फैल रही थीं। धागों पर फैलती बूंदें नोचे गए फूलों की पंखुड़ियों-सी दिखायी दे रही थीं। गुल अफरोज़ ठंडी व खामोश कालीन की बुनाई के चौखटे के नीचे पड़ी थी। उसकी खुली हुई बेनूर आंखें अधबुनी कालीन के गहरे सुर्ख फूलों पर टिकी हुई थीं। □

सहयोगी रचनाकार

पूनम कुमारी : धर्म समाज महाविद्यालय, अलीगढ़
स्मिता मिश्र : आर-38, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली
अखिलेश झा : रश्मितरु, 444, सेक्टर-21ए, फरीदाबाद-121001
ओम प्रकाश कादयान : 234, सैक्टर-13, हिसार (हरियाणा)-125005
रमेश चंद्र पंत : 'उत्कर्ष', विद्यापुर, द्वाराहाट, अल्मोड़ा (उत्तरांचल)-263653
संजीव श्रीवास्तव : सी-69, उपकार अपार्टमेंट, मयूर विहार-1, दिल्ली-110092
नवीन जोशी : 18 364 लोदी कालोनी, नई दिल्ली-110003
श्याम सिंह चौहान : साहित्य अकादेमी, 35 फिरोजशाह रोड, नई दिल्ली-110001
माधव कौशिक : 3277 45 डी, चण्डीगढ़-160047
निर्मला पुतुल : दुधानी कुरुवा, दुमका (झारखण्ड)-814101
इब्राहीम मोतमद नज़ाद : संपादक 'शेष', लोहारपुरा, जोधपुर-342002
हसन जमाल : संपादक 'शेष', लोहारपुरा, जोधपुर-342002
पाल भसीन : ब्यू 4 24-25, फेज-3, डी.एल.एफ. सिटी, गुड़गांव (हरियाणा) 122002
देवेन्द्र चौबे : वार्डेन 03, पेरियार हॉस्टल, दक्षिणापुरम, जवाहरलाल विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067
उमेश अग्निहोत्री : 7881 विंटरब्रुक्स लॉ, स्प्रिंगफील्ड , वर्जीनिया-22152 (अमरीका)
आलोक कुमार श्रीवास्तव : दलईपुर, सोरांव, इलाहाबाद-212502 (उ.प्र.)
आचार्य सारथी : 1/5786, बलवीर नगर चौक, शाहदरा, दिल्ली-32
अभिषेक कश्यप : द्वारा श्री शरत कुमार, बी-5 22, सफदरजंग एन्क्लेव, नई दिल्ली-110029
श्री पंकज चौधरी : द्वारा शेखर कुटीर, न्यू पुनाईचक, बोरिंग केनाल रोड, पटना-23 (बिहार)
विनायक : 8 कार्पोरेशन फ्लैट, फैजाबाद रोड, महानगर लखनऊ-226006
गुरचरण सिंह : 6 15 अशोक नगर, नई दिल्ली-110018

समीक्षा

खुद से जूझता जिन्ना

मिस्टर जिन्ना : नरेन्द्र मोहन; संजय प्रकाशन, 4378/4-बी, 209 जे.एम. डी. हाउस, दरियागंज, दिल्ली; पृष्ठ संख्या : 95; मूल्य 125 रुपये ।

मिस्टर जिन्ना नरेन्द्र मोहन का छठा नाटक है। जिन्ना को भारत विभाजन का प्रमुख कारण माना जाता रहा है। विभाजन पर नाटककार ने गम्भीर काम किया है। विभाजन सम्बन्धित कहानियों की भूमिकाओं में इसे देखा जा सकता है। जिन्ना पर नाटक लिखने से पूर्व जिन्ना पर उपलब्ध सभी सामग्री का नाटककार ने अध्ययन किया है और उसका नाटकीय उपयोग इस नाटक में किया है। वास्तव में जिन्ना की जिंदगी रहस्य की कई परतों में ढकी हुई है। बहन फातिमा जिन्ना के सबसे करीब रही इसलिए उनके निर्णयों को उसने अवश्य प्रभावित किया होगा।

नाटककार जिन्ना पर उपलब्ध साहित्य में से उन तथ्यों को पड़तालता तथा पहचानता है जो उनके संतापों, बिसंगतियों, विभ्रमों, निराशा-हताशा, त्रासदियों, हादसों, तनावों आदि का कारण रहे हैं। जिन्ना ने बयालीस वर्ष की उम्र में अठारह वर्ष की एक पारसी लड़की रत्ती से विवाह किया था जिसने उसे एक बेटी दीना दी थी। 1919 में गांधीजी द्वारा हताश कर दिये जाने पर जिन्ना ने कांग्रेस से इस्तीफा दे दिया था। 1929 में रत्ती के देहान्त से वह पूरी तरह टूट गया था। इन घटनाओं का जिन्ना की साइकी पर गहरा प्रभाव पड़ा है। नाटक में इन घटनाओं का नरेन्द्र मोहन ने समुचित नाटकीय प्रयोग किया है।

जिन्ना सिर्फ वकील या राजनीति का व्यक्ति ही नहीं था, वह साहित्य तथा कला का प्रेमी था, थियेटर से उसका गहरा लगाव था। शेक्सपियर के नाटकों के अंश उसे मौखिक याद थे जिन्हें वह तनाव तथा डिप्रेशन की स्थिति में नाटकीय अंदाज में गुनगुनाया करता था। शेक्सपियर के नाटकों के अंशों का नाटककार ने जिन्ना की मानसिक स्थिति, उसके तनावों तथा द्वंद्वों को उभारने के लिए किया है। नाटककार को यह आवश्यक लगा है कि वह नेता जिन्ना तथा अभिनेता जिन्ना के अंतर्संबंधों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर समझे तथा उसके व्यक्तित्व के अनछुए पहलुओं को इन्हीं के माध्यम से उभारे जिससे नाटक में ऐतिहासिक विश्वसनीयता बनी रहे। नाटक में इस पड़ताल को देखा जा सकता है।

इतिहास के तीस-चालीस सालों की घटनाओं को नाटकीय संयोजन कैसे दिया जाये, यह नाटककार के सामने सबसे बड़ी चुनौती थी। इसके लिए उसने प्रकाश दृश्य पद्धति को अपनाया है।

नाटक का प्रारम्भ 1940 के आसपास की घटनाओं से होता है। अतीत की वे घटनाएं जो जिन्ना के चरित्र तथा विभाजन से संबंध रखती हैं तथा जिनका नाटकीय महत्व है उन्हें प्रकाश-दृश्य माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। नाटक का प्रारम्भ जिन्ना की तकरीरों से होता है जिसमें वे मुसलमानों को एक अलग कौम सिद्ध करते हैं। दूसरे दृश्य में दीना का एकालाप है जिसमें वह पारसी लड़के के साथ अपने प्रेम का वर्णन करती है। दीना का यह निर्णय जिन्ना को झकझोर देता है। संवादों के माध्यम से नाटककार धीरे-धीरे चरित्रों को उभारता है।

नागपुर अधिवेशन में जिन्ना जैसे कद्दावर व्यक्तित्व को अपमानित किया गया था। कांग्रेस से इस्तीफा देने के अतिरिक्त उसके पास और कोई विकल्प नहीं था। इस घटना से वह समझ गया कि 'इस मुल्क में रहने का मतलब है मेजोरिटी के हाथों लगातार पिटना, दोयम दर्जे के सिटीजन की मजबूरी और दर्द को सहना और चूं तक न करना।'

जिन्ना के व्यक्तित्व की एक अन्य विशेषता उसका गम्भीर स्वभाव है। वह गांधी के विरोध में खड़ा हुआ पर वह गांधी की विशेषताओं की कद्र भी करता है-

'तुम जानते हो मेरे ख्याल गांधी से एकदम मुख्तलिफ हैं तो भी मैं उसकी बेहद कद्र करता हूं।' जिन्ना का मानना है कि 'वह किसी को नंबर वन नहीं होने देता और नम्बर टू मुझे कबूल नहीं।'

पाकिस्तान के निर्माण के साथ ही नाटक के दूसरे अंक का प्रारम्भ होता है। चारों ओर साम्प्रदायिक दंगे हो रहे हैं। जिन्ना के सामने जो यथार्थ है उसकी उसने कल्पना नहीं की थी-

'कौम और ख्वाब के नाम मेरे हाथ क्या लगा, कुछ टुकड़े कौम के, कई चिथड़े ख्वाब के ...' जिन्ना पाकिस्तान का गवर्नर जनरल होते हुए भी बेबस-लाचार और अकेला है। वह यह सोचने पर विवश हो जाता है कि 'यहां मेरा कौन है? मेरे अपने मेरे खिलाफ उठ खड़े हुए हैं।' इन घटनाओं से उसका स्वास्थ्य और बिगड़ जाता है।

नाटक में प्रकाश दृश्यों का प्रयोग स्थितियों को उभारने के लिए किया गया है। नाटककार मंच पर उपस्थित पात्रों को फ्रीज करके अतीत में घटित घटनाओं को मूर्त करता है। इससे नाटकीयता आयी है, स्थितियां स्पष्ट हुई हैं, चरित्रों का विकास हुआ है तथा उनकी मानसिक बनावट उभरी है। प्रकाश वृत्त का प्रयोग भी वह दृश्यों को उभारने के लिए करता है। नगरों में फैले दंगे, लूटपाट आदि को इसी पद्धति से उभारा गया है। इसके साथ ही फोन की घंटी का बजना सूचनाओं का आना सिर्फ नाटकीयता ही नहीं लाता बल्कि दर्शकों में जिज्ञासा तथा कुतूहल का भाव भी उभारता है।

जिन्ना की भूमिका को जो भी अभिनेता करेगा उसे जिन्ना की इस दोहरी पहचान को समझना होगा तभी वह उसके साथ न्याय कर पायेगा। इस नाटक के अन्य पात्र भी सहज नहीं हैं। राजनीति से जुड़े होने के कारण वे मुखौटाधारी हैं। वे कई जिन्दगियां एक साथ जी रहे हैं। इसलिए अभिनेता इन भूमिकाओं को तभी निभा पाएंगे जब वे उनकी तह तक जायेंगे।

नाटककार ने फेंटेसी का प्रयोग स्थितियों को गहराने, चरित्रों को उभारने तथा नाटकीयता लाने के लिए किया है। दीना को जिन्ना की आवाज का दीवार में से सुनायी देना, मां का पियानों बजाते हुए दिखना, दीना के मनोविज्ञान तथा उसके मानसिक द्वंद्व को उभारने में सहायक हुआ है।

मिस्टर जिन्ना नाटक के माध्यम से नाटककार मिस्टर जिन्ना के चरित्र को उभारने में तो सफल रहा ही है, इतिहास तथा राजनीति के उन तथ्यों से भी हमें परिचित करवाता है जो विभाजन का कारण रहे। इससे हमारे पूर्वाग्रह टूटते हैं तथा नयी सोच विकसित होती है जो विभाजन के सही कारणों को समझने में सहायक है।

– गुरचरण सिंह

रंगों, गंधों और स्मृतियों की काव्य-कथा

कृति-का : इला कुमार

वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; मूल्य : 125 रुपये।

'कृति-का' इला कुमार का पहला उपन्यास है, जिसे कविता की तरह पढ़ा जा सकता है। वाद-विवाद और विचारधाराओं के तुमुल कोलाहल से परे यह रंगों, गंधों और स्मृतियों की काव्य-कथा है।

यह कृति की कहानी है। सात भाई-बहनों में सबसे छोटी कृति की कहानी, जो अक्टूबर महीने की एक सुबह अपने मां, बाबूजी, भाई-बहनों, खाना बनाने वाले पंडित जी, छोटा टेलवा नौकर और चच्चा के साथ हर साल की तरह दशहरे की छुट्टियां मनाने वैद्यनाथ धाम जा रही है। और जैसे ही वह सवारी गाड़ी में दाखिल होती है 'सेकेण्ड क्लास के उस डब्बे के फर्श पर पड़ती तिरछी लाल धूप अपने प्रतिबिम्ब कृति के गालों पर, उसकी बांहों, घुटनों और पैरों पर रच देती है। मानो उन हल्की सुनहली रश्मियों ने यह पहले से तय कर रखा हो कि सुबह-सवेरे जब कृति नाम की लड़की वहां डब्बे की उस सीट पर आकर बैठेगी तो वे पूरी गर्मजोशी तथा कोमलता के साथ उसे अपने घेरे में ले लेंगी।'

वही बच्ची कृति एक दिन बड़ी हो जाती है और उसका ब्याह हो जाता है। मां, बाबूजी, भाई-बहन, पंडित जी, टेलवा नौकर, घर, आस-पड़ोस के अंतरंग-आत्मीय परिवेश को छोड़ वह पति के संग 'अपने बीते बरसों के आलोक, अनुच्चरित सिद्धांतों और अपनी जादुई खुशमिजाजी के साथ जा रही है'...जफरपुर से जमशेदपुर, जमशेदपुर से साईनी, साईनी से डोंगापासी! मगर 'उसके मानस का एक सिरा हमेशा मां से, उनकी स्मृतियों से जुड़ा रहता है, वह जहां भी जाती है, मां उसके मानस के साथ चलती है, स्वप्न की नाईं।' ...दो नावों पर सवार उसका मन भंवर में फंसा है और वह सोचती है- 'आगे पूरी जिंदगी वह ऐसे ही पिछली और अगली जिंदगी के बीचोंबीच डोलती रहेगी।' समकालीन हिंदी कथा-साहित्य में कुटुम्ब के प्रति दुर्लभ होती इस संवेदना के बिंब स्मृतियों के जरिए बार-बार सामने आते हैं- कभी मां, कभी बड़े भाई के प्रति कृति के सघन आंतरिक लगाव के रूप में। कृति के छुटपन में पितृविहीन हो जाने के बाद किशोरावस्था में ही बड़े भाई 'बड़प्पन की बेल' को अपने भीतर सींचते और संवारते हैं ताकि 'उसकी ठंडी छांह तले छोटी-सी कृति निश्शंक बनी रह सके। निर्भीक होकर बड़ी हो सके।'

दरअसल यह कृति नाम की स्त्री की एक ऐसी दुनिया है जहां बार-बार बरसों पहले देखे गए स्वप्न की गंध वर्तमान के ऊपर तैर आती है, जहां नए सपनों को जन्म देने की घड़ियों के बीच बीत चुके काल को नई-दृष्टि से देखती सम्वेदनशील स्त्री है, जहां प्रकृति और आस-पड़ोस के प्रति सघन लगाव है, जहां पारिवारिक सम्बन्धों की ऊष्मा है, जहां वस्तुओं का प्रवेश जीवन में आत्मीय और लालित्यपूर्ण तरीके से होता है।

कृति अपने रेलवे अधिकारी पति जयंत के साथ बड़े शहरों-महानगरों के कोलाहल-कलह से दूर डोंगेपासी जैसे शांत-सुरम्य इलाके के विशाल बंगले में सूरज, चांद और हरियाली के बीच सुखी संतुष्ट जीवन जी रही है। इससे पहले अपनी मां, भाई-बहनों के बीच उसने ऐसा ही निश्शंक जीवन जिया है। शायद इसलिए 'घृणा से, हिंसा से अभी उसका परिचय नहीं।' वह अपने भाग्य के इस अद्भुत पक्ष के बारे में सोचते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि 'वह भाग्यशाली है।'

मगर समय बड़ा बलवान होता है और अक्सर बेरहम भी। और इस बेरहम समय को, स्वप्न को दुःस्वप्न में बदलते देर नहीं लगती। जिंदगी जितनी लंबी होती है उसकी विडंबनाएं उतनी ही त्रासद। और इस लम्बी जिंदगी में कोई भी आकर्षण, किसी तरह का स्वप्न ताउम्र नहीं बना रहता। 'घृणा' और 'हिंसा' की दुनिया से जल्दी ही कृति का परिचय हो जाता है और वह महसूस करती है- 'एक नए ढंग का वणिक कल्चर रेल की दुनिया में प्रवेश कर रहा है। और वहां के नियम अलग हैं। दूध में कुछ बूंद जहर मिलाने की प्रथा अपने पंख पसार रही है।...एक अलग किस्म की काली सुबहों का सिलसिला शुरू हो रहा है, जिनमें चमचमाता सूरज कभी नहीं उगनेवाला!' और इन काली सुबहों के बीच कभी-कभी कृति बचपन की स्मृतियों में लौटती है, जहां अपने भाई-बहनों के साथ अलसुबह हाथ-मुंह धोकर वह पढ़ने बैठ जाती थी।

उपन्यास के उत्तरार्ध का ज्यादातर हिस्सा भारतीय रेल के इतिहास, रेल-व्यवस्था की विसंगतियों-विद्रूपताओं पर केंद्रित है, जहां इस दुश्चक्र में पिसते अपने ईमानदार-कर्तव्यनिष्ठ पति को हैरान-परेशान देखकर आहत होती पत्नी (कृति) है। अपने खाली समय में वह निम्न व निम्न-मध्यवर्गीय रेलकर्मियों की औरतों के कल्याण व स्वरोजगार के लिए स्वयंसेवी संस्था बनाने में सहयोग देती है, पति के साथ अफसर मित्रों के परिवारों में आती-जाती है और वहां रेलवे की नौकरी की अत्यधिक व्यस्त, जिम्मेवार-जवाबदेह जीवनचर्या और तबादले के दंश को महसूस करती है, मगर इनके बीच भी लेखिका ने काव्यात्मकता का दामन नहीं छोड़ा है।

थोड़े में कहें तो इला कुमार के इस उपन्यास में एक खास किस्म का 'नास्टैल्जिक आकर्षण' है; रंगों, गंधों और स्मृतियों के जरिए रचा यह ऐसा गद्य है, रोलां बाथ जिसे 'प्लेजर ऑफ टेक्स्ट' कहते हैं।

-अभिषेक कश्यप

सामाजिक-राजनीतिक संघर्षों से निकली कविताएं

नींद कहां है... : अनिल जोशी, प्रकाशक : हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली-110002, पृष्ठ संख्या : 104; मूल्य : 125 रुपये

उसने मुझे जब हिंदी में
बात करते हुए सुना
तो गौर से देखा
और अपने मित्र से कहा
माई लेट गैंडफा यू ऽऽ टू स्पीक
इन दिस लैंग्वेज
इस भाषा के साथ मैं उसके लिए
संग्रहालय की वस्तु की तरह विचित्र था

उपर्युक्त काव्य पंक्तियां *नींद कहां है...* के कवि अनिल जोशी की हैं। इस तरह की कविता लिखने की मनःस्थिति में अनिल जोशी तब पहुंचते हैं जब वे देखते हैं कि विदेश (लंदन) में अपने ही लोगों के मन में अपनी भाषा, संस्कृति, देश के प्रति कितनी नफरत, तिरस्कार और घृणा की भावना बजबजा रही है। जो भारतीय वहां भूले-भटके भी यदि अपनी भाषा, संस्कृति, देश के बारे में बात कर लेता

है तो वह वहां बसे भारतीयों की नयी पीढ़ी के लिए जिनका फलसफा भोग, उपभोग, कैरियर और संभोग बन गया है, दीवार पर टंगे हुए किसी चित्र के समान हो जाता है। जिसे हार तो पहनाया जा सकता है लेकिन गले नहीं लगाया जा सकता।

वहीं दूसरी ओर अनिल जोशी जैसे लोग हैं जो ब्रिटेन में रहते तो जरूर हैं लेकिन उनकी आत्मा भारत में बसती है। यहां की हर उन चीजों से वे बेइंतहा मुहब्बत करते हैं और उन्हें अपनी कविताओं में अभिव्यक्त करते दिखाई देते हैं। यहां की धरती, नदियां, पर्वत, आबो-हवा, पंछी, संगीत, गांव, गली, चौपाल, मोहल्ला, दादा, नानी, चाचा, मौसी, साली की याद जब उन्हें आती है तब वे कहते हैं :

जिस समाज से आया था मैं
उस समाज का एक हिस्सा था!
गांव, गली, चौपाल, मोहल्ला
सब पर ही मेरा किस्सा था!

ऐसा कैसे हो सकता है कि कवि को भारत की याद आए और ब्रिटेन की प्राकृतिक सुषमा-नदियां, सागर, लहरें और प्रेम जिनको वह दिन-रात देखता रहता है, प्रभावित नहीं कर पाए। इसलिए कवि 'पोर्टस्मिथ के बीच पर' और 'लंदन अंडर ग्राउंड में प्रेम' कविता में एक प्रेमिल जोड़े का दर्शन कराते हुए कहता है :

लड़के का जोर से चुंबन लिया लड़की ने।
महक रह जाती है गाड़ी में
ये प्रेम भरे बादल जहां भी जाएंगे
पानी ही बरसाएंगे।

संग्रह में सामाजिक-राजनीतिक संघर्षों से निकली कविताएं भी हैं। ऐसी कविताएं सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों में हो रही भारी गिरावट की ओर जहां हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं, वहीं दूसरी ओर इस गिरावट पर नई पीढ़ी के गुस्से और आक्रोश को भी बखूबी जाहिर करती हैं। इन कविताओं में कवि नई पीढ़ी की बेचैनियों और उद्विग्न सोच की प्रभावशाली अभिव्यक्ति करने में भी सफल होता है। ऐसी कविताओं में 'नेता यारो मुफ्त में बदनाम है', 'इन्सां है या लोमड़', 'टैपन, परेशान ये हिंदुस्तान है', 'हिंदी साहित्य में गब्बर सिंह', 'दुम' और 'बाल मजदूर' को देखा जा सकता है। ऐसी कविताओं के जरिए कवि मारक व्यंग्य का भी प्रयोग करता है।

संग्रह में लंबी कविताएं भी हैं और छोटी भी, छंद में बंधी हुई कविताएं भी हैं और मुक्त छंद की भी। इन कविताओं की यह खासियत है कि जितना प्रभावशाली इनका कथ्य है, उतना ही इनका भाषा-शिल्प भी।

—पंकज चौधरी

समष्टि चेतना की कविताएं

पत्थर तक जाग रहे हैं : बलदेव बंशी; संजय प्रकाशन, 57-बी, पॉकेट-ए, फेज-2 अशोक विहार, दिल्ली-110052; पृष्ठ : 96; मूल्य : 95 रुपये।

बलदेव वंशी की कविताएं आंतरिक जागरण की कविताएं तो हैं ही, बाहरी आक्रमणों से खुद को बचाए रखने की एक सजग कोशिश भी इन कविताओं में है। धूप, चिड़िया, बच्चे, नदी, खुशबू, पहाड़, चट्टान, आकाश, वायु, समय, समाज आदि से वार्तालाप करता कवि कभी भी, कहीं भी सुस्त, उदास, गैरसंजीदा या लापरवाह नजर नहीं आता तो इसकी एक सीधी-सी वजह कवि की सजग दृष्टि और उसका फकीराना अंदाज ही है। 'फकीरों के दर पे फकीर आ गए हैं, जहां पर बुझे थे, वहीं पर जलेंगे!' यानी फकीरी जलने और बुझने और पुनः-पुनः प्रज्ज्वलित होने, आंतरिक जागरण से प्रकाशित होते रहने के एक असमाप्त सिलसिले जैसी ही होती है।

बलदेव वंशी ने इस पुस्तक की भूमिका में कहा भी है- "प्रकृति लोक (आलोक) की वाहिका है। समूचा ब्रह्मांड एक चैतन्य इकाई के रूप में प्रत्यक्ष होता है तो व्यक्ति समाज का चैतन्य अस्तित्व ही नहीं, स्थूल वस्तुएं भी-पत्थर, पेड़, पशु, पक्षी, मानव प्राणी-ये चेतना के विकास क्रम *घूमती हवाओं को/ नदियों के व्याकुल भागते पानियों को/ लावारिस उगे पौधों में/ बांटती फिरेगी आर्द्रता/ एक चुम्बन/ मन्वन्तरों के पार/ आएगा लौटकर/ तुम तक।*

कविता वस्तुतः मनुष्य और जीवन के बुनियादी सपनों की सरलतम अभिव्यक्ति ही तो होती है, 'ईश्वर मनुष्य के सबसे बुनियादी सपनों में एक है। डॉ. बलदेव वंशी कहते हैं-

ईश्वर नहीं है बाहर। हम से
भीतर भी छूट भर ही
चहकता है भयभीत चिड़िया की भांति।

एक अन्य कविता है- 'फिर से ईश्वर'-

फिर से
ईश्वर को पैदा करो भीतर
मर गया है तो
अपनी ही खातिर।

ग़ज़ल और गीत की दुनिया

तुम्हारे नाम : उर्मिल सत्यभूषण
सत्य सृजन प्रकाशन
152-ए, पॉकेट-4, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-110091
पृष्ठ संख्या : 112; मूल्य : 120 रुपये।

'तुम्हारे नाम' परिचित कवयित्री उर्मिल सत्यभूषण की ग़ज़लों का संग्रह है, इसमें कुछ गीत भी हैं। उर्मिल की इन ग़ज़लों में प्रेम की तीव्र वेदना के साथ ही समाज के विभिन्न पक्षों को भी अशआर में पिरोया गया है। कथ्य के स्तर पर प्रभावित करने वाली ग़ज़लों के कुछ अशआर ये हैं-

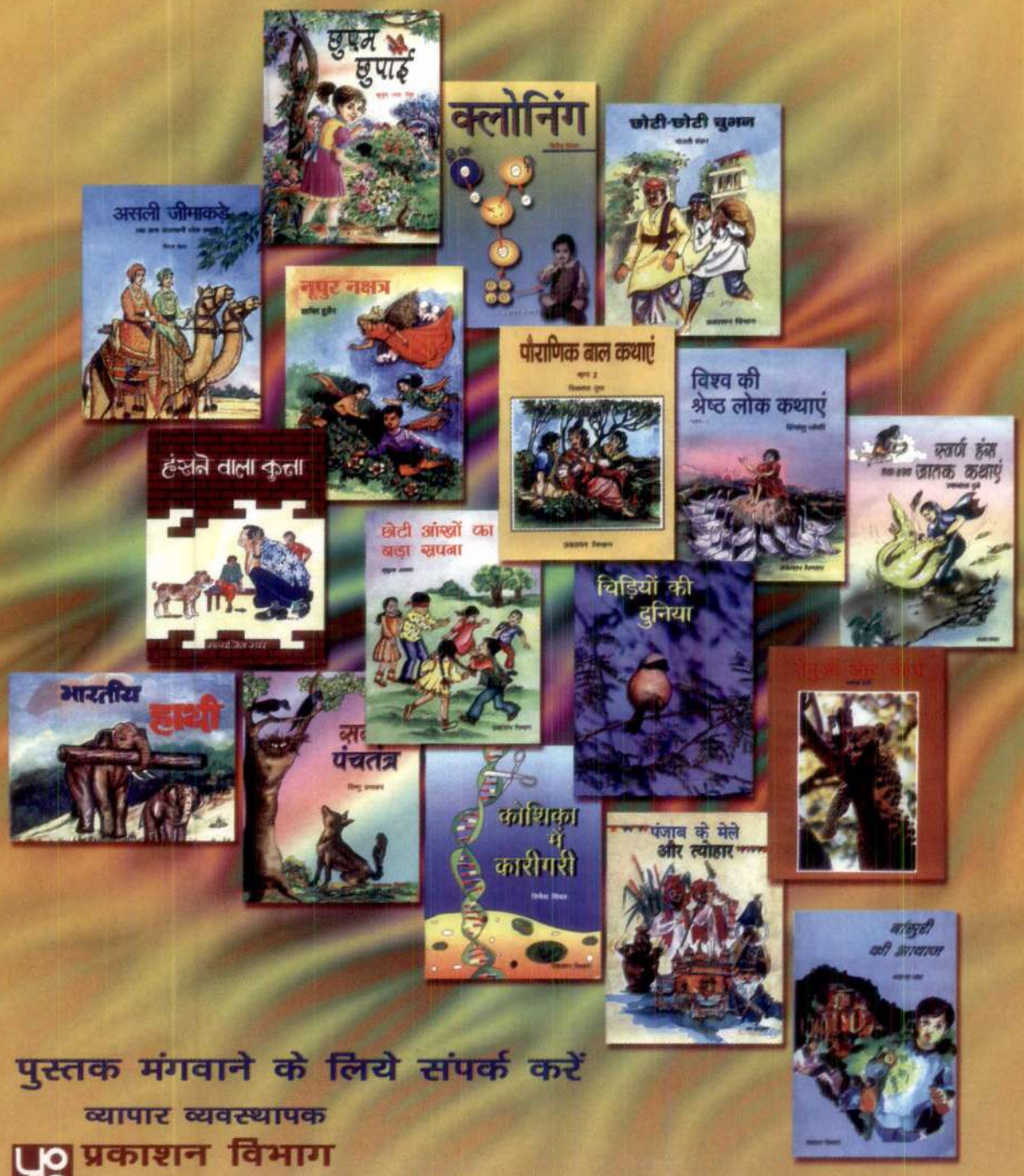
दिशायें हैं धूमिल कि कुहरा घना है
खुलेगा ये वातावरण धीरे-धीरे।
अपनी ही खुशबू को पाने की खातिर
भागे बहुत हैं हिरण ज़िन्दगी के।

गीत जीवन की लय-ताल का साधक और समर्थक होता है। गीत है तो सिर्फ इसीलिए कि हमारे जीवन में, सृष्टि में लय बची हुई है, तमाम सारे ध्वनि-प्रदूषण के बावजूद। आज जब छंदबद्ध रचनाएं देने वाले कवियों को तुक्कड़ कवि कहकर अपमानित किया जाने लगा है, ऐसे में निराला, नागार्जुन, त्रिलोचन जैसे कवियों के गीत छंदबद्ध कवियों की स्थिति को डिफेंड करने के लिए पर्याप्त हैं, क्योंकि इन शीर्षस्थ कवियों की छंदमुक्त कविताएं भी श्रेष्ठतम श्रेणी की हैं।

जहां तक उर्मिल सत्यभूषण के गीतों की बात है, इनमें प्रेम के विभिन्न पक्ष देशभक्ति, सामाजिक सरोकार खास तौर पर सामने आते हैं। इसके बावजूद शिल्पगत कसाव का अभाव और कथ्य के स्तर पर लचर अभिव्यक्तियां इन गीतों की कमजोरियां हैं। उर्मिल सत्यभूषण से आगामी संग्रहों में परिपक्व रचनाओं की अपेक्षा का आश्वासन इस संग्रह की रचनाओं में मिलता है।

—आचार्य सारथी

बच्चों को हमारी अनुपम भेंट



पुस्तक मंगवाने के लिये संपर्क करें

व्यापार व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग

सूचना भवन, सी.जी.ओ.कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,

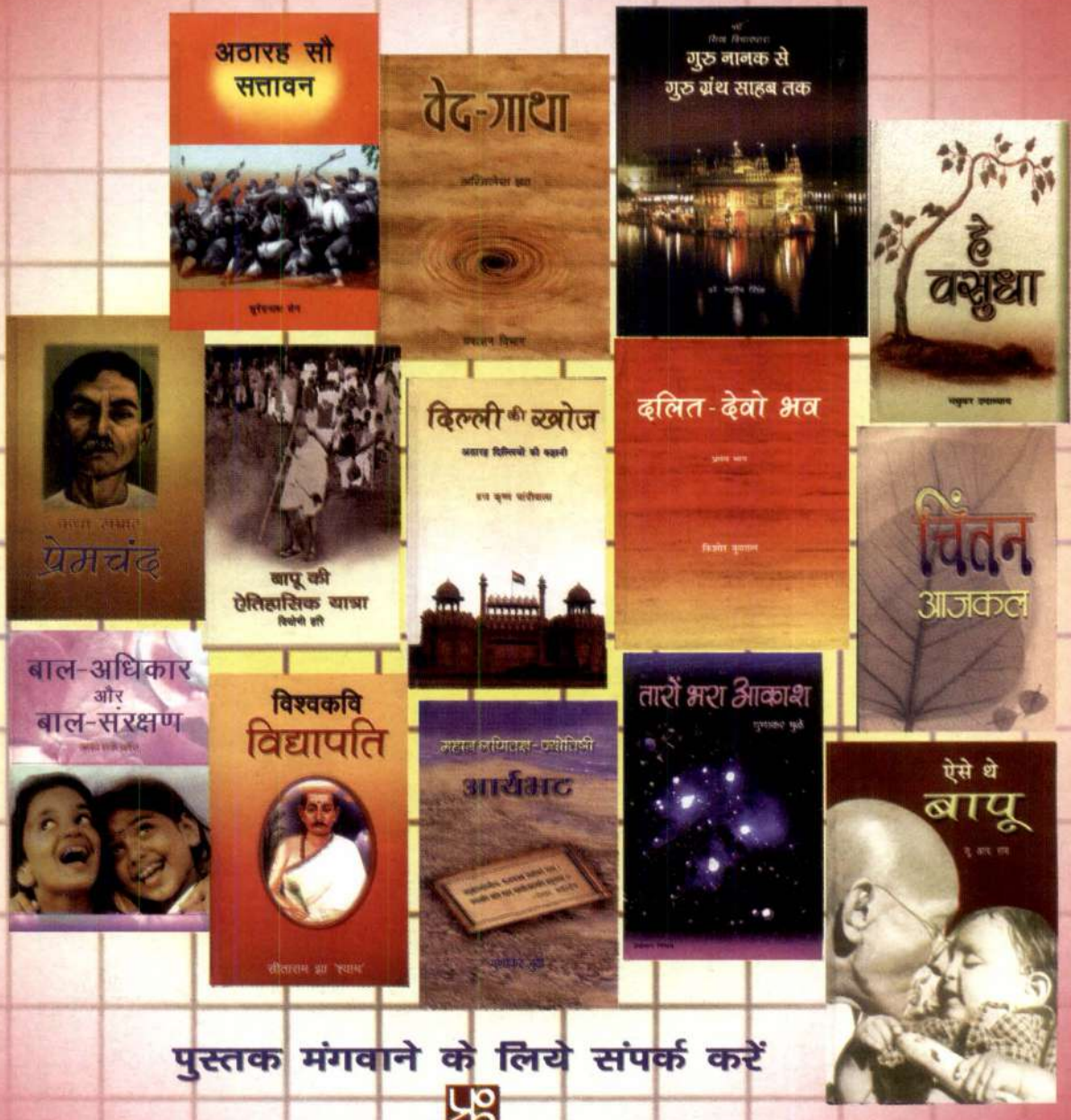
नई दिल्ली 110003

फोन:2436 7260

डाक तार पंजीयन सं. डी एल (एस)-05/3222/2006-08 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली में पोस्ट के लिए लाइसेंस U (DN) 49/2003.05
Postal Regn. No. DL(S)-05/3222/2006-08
Licenced U(DN) 49/2003-05 to post without pre-payment at RMS Delhi
दिल्ली डाक आर एन 701/57
Delhi Postal RN 701/57

वार्षिक मूल्य : 70 रुपये

हमारे नये प्रकाशन



पुस्तक मंगवाने के लिये संपर्क करें

व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
सूचना भवन, सी.जी.ओ.काम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली 110003
फोन:2436 7260

प्रकाशक व मुद्रक वीना जैन, निदेशक द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए दिल्ली प्रेस, ई-3, झण्डेवाला इस्टेट, नई दिल्ली-110055 से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110 003 से प्रकाशित। संपादक : प्रवीण उपाध्याय